अध्याय 4

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव

(Socio-Cultural Impact of Colonial Rule in India)

आधिकारिक रूप में समाज सुधार के प्रयास (1828-57)

ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकांश अधिकारी यह चाहते थे कि भारतीय समाज में जो अनेक बुराइयां फैली हुई हैं उन्हें समाप्त किया जाए लेकिन वे ऐसा नहीं कर पा रहे थे। इसके दो कारण थे— पहला कारण तो यह था कि 1813 ई. तक ईस्ट इंडिया कंपनी मूल रूप से व्यापारिक गतिविधियों तक सीमित थी और वे केवल अपना लाभ चाहते थे। कोई भी दूसरा मुद्दा उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता था। दूसरे, कंपनी यह भी नहीं चाहती थी कि वह भारतीय समाज के शक्तिशाली धार्मिक आधार को कोई ठेस पहुंचाए। अंग्रेज इस सिलसिले में बहुत सचेत रहते थे क्योंकि वे जानते थे कि इस तरह की कोई भी कोशिश भारतीय नागरिकों के दिलों में गलतफहमी पैदा कर देगी जिसकी वजह से उन्हें देश में रहना कठिन हो जाएगा।

इंग्लैंड की सत्ताधारी कंजरवेटिव पार्टी इसीलिये यह चाहती थी कि जो चीज जैसी है, उसे वैसे ही छोड़ दिया जाए। इस बात का समर्थन भारत के गवर्नर जनरल वारने हंस्टिंग्स (1773-85) और एच-सच विलसन जैसे ओरिन्टलिस्टों ने भी किया। इन लोगों का विचार था कि ब्रिटिश सरकार को चाहिए कि वे अपने मामलों से सरोकार रखें, कला और साहित्य आदि की ओर ध्यान दें और यज्ञ के रस्मों-रिवाज और प्राचीन परंपराओं को वैसा ही छोड़ दें। यद्यपि बनारस के रहने वाले जोनाथन डंकन ने महिलाओं पर होने वाले अत्याचार के विरोध में आंदोलन चलाया और वेलेजली के अधिकारियों ने सती प्रथा को समाप्त करने की कोशिशें शुरू कीं। लेकिन ये केवल कुछ अपवाद थे। इससे सुधार की कोई बड़ी तस्वीर उभर कर सामने नहीं आती थी और भारत में सामाजिक बुराइयों का चलन यूं ही जारी रहा।

यद्यपि इवेंजेलिकल्स, रेडिकल्स और यूटिलीटेरियंस ने कंजरवेटिव पार्टी की इस मामले में आलोचना की। इवेंजेलिकल्स का विचार था कि यह हमारी नैतिक जिम्मेदारी है कि हम लोगों को सीधा रास्ता दिखाएं, मूर्तिपूजा से रोकें और अंधविश्वास की बेड़ियों से लोगों को आजाद करायें।

दूसरी ओर रेडिकल्स और यूटिलीटेरियंस बेन्थम सिद्धांत पर विश्वास करते थे। उनका विचार था कि समाज सुधार के लिए कठोर कानून बनाये जाने चाहिए।

जेम्स मिल्स जो 'History of India' (1818) के लेखक भी थे, ने ब्रिटिश सरकार को इसके लिए तैयार किया। बहुत से उदारवादी लोग जो भारत के प्रशासनिक सेवा में कार्यरत थे, जैसे—मांसटार्ट एल्फिंस्टन, चार्ल्स मैटकाफ और जॉन मेल्कम ने भी मिलजुल कर सरकार पर दवाब बनाया कि सरकार समाज सुधार की ओर ध्यान दें। लॉर्ड विलियम बेंटिक पहले गवर्नर-जनरल थे जो भारत में समाज सुधार की दिशा में सक्रिय हुए और कुछ नियम तय किए।

भारत का सौभाग्य कहिए कि लिब्रल और रैडिकल जो भारत में इस तरह की मांग कर रहे थे, का उस समय ब्रिटिश संसद में वर्चस्व था। अनेक प्रगतिवादी भारतीयों ने भी इसका समर्थन किया। राजा राम मोहन राय ने समान विचार वाले लोगों का एक समूह तैयार किया, जिन्होंने सरकार से निवेदन किया कि यह समाज-सुधार के लिए कानून बनाये। ब्रिटिश सरकार में मौजूद लिब्रल और रैडिकल तत्वों का सहयोग, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के प्रयास और शिक्षित प्रगतिवादी भारतीय नागरिकों की सक्रियता से ही यह संभव हो सका।

लॉर्ड विलियम बेंटिक ने 1829 में एक प्रस्ताव पारित (प्रस्ताव संख्या XVII) करके सती प्रथा पर रोक लगा दी और उसे दंडनीय अपराध घोषित कर दिया। प्रस्ताव के शब्द कुछ इस तरह थे:

"Sati as culpable homicide or suicide (if the women died). Punishment would be given to those who attempted sati and to those who instigated it."

'जो लोग सती के लिए किसी महिला को उकसायेंगे उनके ख़िलाफ़ हत्या का मुकदमा चलेगा। यह कानून मुंबई और चेन्नई में 1830 तक लागू रहा।'

विलियम बेंटिक सरकार ने ही गुलामी प्रथा को भी समाप्त किया जो प्राचीन भारत में प्रचलित था। बाद में लॉर्ड हार्डिंग प्रथम (1844-48) के शासन-काल में मानव बलि पर भी पाबंदी लगा दी गयी। मानव बलि की प्रथा सर्वाधिक 'गोंड' कबीले में थी, जो भारत का सबसे बड़ा कबीला था।

लॉर्ड डलहौजी का शासन-काल दो महत्वपूर्ण अधिनियमों के लिए जाना जाता था। समाज सुधार के उद्देश्य से बने ये दोनों अधिनियम—Woman disability Act और Widow Remarriage Act (1856)। पहले कानून के अनुसार धर्म परिवर्तन के बाद भी कोई व्यक्ति अपने परिवार का वारिस बना रहेगा। यह कानून धर्म परिवर्तन को प्रोत्साहित करने के लिए बनाया गया था लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके द्वारा लोगों के व्यक्तिगत विचार को सम्मान दिया गया था।

दूसरा कानून विधवाओं के पुनर्विवाह को लेकर था। उन दिनों हिन्दू विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था। हालांकि वेदों और उपनिषदों में ऐसा कुछ नहीं था। लेकिन शास्त्रों और स्मृतियों में इसका उल्लेख था और हिन्दुओं में इसका चलन आम था। बाल विवाह और कुल विवाह की प्रथा ने इसे और भी उलझा दिया था और दिन-प्रतिदिन विधवाओं की सख्या बढ़ती जा रही थी। अनेक प्रगतिवादी भारतीयों की इच्छा थी कि विधवाओं का पुनर्विवाह हुआ करे। राजा राममोहन राय ने विधवाओं की जर्जर अवस्था को अपने आलेखों में खूब उजागर किया। कुछ कुंवारी ब्राह्मण लड़कियों ने सरकारों और बुद्धिजीवियों से एक बंगाली समाचार पत्र 'समाचार दर्पण' के माध्यम से अपील की कि इस दिशा में कुछ कदम उठाए जाएं। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने भी विधवा विवाह के पक्ष में 'तत्व बोधिनी' में लगातार लेख लिखे। उन्होंने लॉर्ड डलहौजी सरकार से आग्रह किया कि वे इस संबंध में कुछ कानून पारित करें। हालांकि कुछ हिंदुओं ने सरकार पर इस कानून के विरोध में दबाव बनाया। लेकिन लॉर्ड डलहौजी और उसकी कार्यकारणी समिति ने ईश्वर चंद विद्यासागर के विचार का समर्थन किया और 26 जुलाई, 1856 को विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित कर दिया गया।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा का आगमन

प्राचीन और मध्यकालीन भारत ने धीरे-धीरे प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान आदि में अच्छी प्रगति की। गणित, ज्योतिष विद्या, औषध विद्या, तर्कशास्त्र, व्याकरण, कानून और दर्शन शास्त्र आदि में बहुत

प्रगति की। दुर्भाग्य से प्रायौगिक अध्ययन और अनुभव शास्त्र आदि में अपेक्षाकृत अधिक विकास नहीं हो सका। हिंदुओं में पारंपरिक ज्ञान सीमित था क्योंकि ज्ञान के लिए संस्कृत भाषा का जानना आवश्यक था। संस्कृत का ज्ञान ब्राह्मणों एवं उच्च जातियों के बच्चों तक ही सीमित था। अधिकांश पाठशाला मंदिरों में ही हुआ करते थे।

मुसलमानों में मकतबों (प्राइमरी स्कूल) और मदरसों (हाई स्कूल) का रिवाज था, जहां धार्मिक शिक्षाएं दी जाती थीं लेकिन विज्ञान, इतिहास और भूगोल आदि में भारतीय मुसलमान भी बहुत पिछड़े हुए थे।

इस तरह भारतवासियों का ज्ञान पूरी तरह सीमित था। 18वीं शताब्दी में भारत में राजनीतिक उथल-पुथल रही। यहां के लोगों को अनेक उतार-चढ़ाव से गुजरना पड़ा और वे किसी भी क्षेत्र में विकसित नहीं हो सके। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद यहां पश्चिमी और वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार-प्रारंभ हुआ। ईसाई मिशनरियां, सरकार और भारत के बुद्धिजीवी वर्ग तीनों ने पश्चिमी शिक्षा के प्रसार-प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

ईसाई मिशनरियों की भूमिका

भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के सिलसिले में ईसाई मिशनरियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस की विस्तार से चर्चा के लिए अलग से एक अध्याय दिया जा रहा है।

सरकार की भूमिका

सन् 1813 ई. से पहले बहुत से शैक्षणिक संस्थान सरकार द्वारा खोले गये या उनकी आर्थिक मदद की गयी। लेकिन यह काम सरकारी स्तर पर नहीं हो रहा था बल्कि संबंधित अधिकारियों ने इसे अपनी व्यक्तिगत रुचि के आधार पर शुरू करवाया था। 1781 में वारेन हैस्टिंग ने अरबी और फारसी भाषा के उत्थान के लिए 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना की। इसका दूसरा उद्देश्य यह था कि मुस्लिम अधिकारियों को न्यायपालिका के लिए तैयार करना था या उन सरकारी पदों के लिए तैयार करना था जो महत्वपूर्ण समझे जाते थे। कुछ इसी तरह के उद्देश्यों से जोनाथन डंकन ने 1791 में बनारस में 'बनारस संस्कृत कॉलेज' की स्थापना की। सर विलियम जोंस ने कलकत्ता में Asiatic Society of Bengal की स्थापना 1784 ई. में की। इस सोसायटी का उद्देश्य इतिहास और अन्य विषयों पर शोध कार्य करना था।

इसी तरह लॉर्ड वेलेसली ने सन् 1800 ई. में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना की ताकि उन्हें कंपनी में काम करने योग्य बनाया जा सके। लेकिन वहां के प्राचार्य जॉन गिलक्रिस्ट ने इस कॉलेज का उपयोग पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने, व्याकरण लिखने और शब्दकोष संकलित करने के लिए किया। यहां विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों के अनुवाद का भी महत्वपूर्ण कार्य संपन्न हुआ। फोर्ट विलियम कॉलेज की उर्दू एवं हिंदी के गद्य लेखनी में भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

चार्टर एक्ट 1813 के तहत ब्रिटिश संसद ने ईस्ट इंडिया कंपनी को यह आदेश दिया कि भारत में ब्रिटिश क्षेत्र में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए प्रतिवर्ष एक लाख रुपये खर्च करे। लेकिन कंपनी ने इस धनराशि का उपयोग 1823 तक नहीं किया था।

कंपनी की सरकार शिक्षा नीति से अनिभिज्ञ थी। फिर सरकार ने इसकी आवश्यकता को समझा कि इसके लिए एक शिक्षा समिति का गठन किया जाये। 17 जुलाई, 1823 ई. को गवर्नर-जनरल की एक कौंसिल ने एक साधारण समिति का गठन किया। उसका अधिकार क्षेत्र प्रेसिडेंसी ऑफ बंगाल तक था और एच.टी. प्रिंसेप और एच.एच. विलसन उसके सदस्य थे।

आंग्ल—प्राच्य विवाद

सामान्य समिति के सदस्य दो समूहों में विभाजित हो गये। पहला समूह यह चाहता था कि इस कोष को प्राच्य शिक्षा के विकास में खर्च किया जाए जैसे संस्कृत, अरबी या फारसी आदि के विकास में। उन लोगों को प्राच्यवादी कहा गया। इनमें एच.टी. प्रिंसेप और एच.एच. विलसन का नाम प्रमुख है। दूसरा ग्रुप आंग्लवादी कहलाया। ये लोग इस पक्ष में थे कि अंग्रेजी शिक्षा पर बल दिया जाए।

चार्टर एक्ट-1833 ने इस राशि को एक लाख वार्षिक से बढ़ाकर 10 लाख वार्षिक कर दिया। इससे समस्या कुछ और बढ़ गयी। क्योंकि राशि अधिक थी और दोनों ग्रुप उसे अपने अंदाज में खर्च करना चाहते थे। यह मामला इतना बढ़ गया कि कुछ वर्षों तक कोई काम संभव न हो सका।

मामला तब जाकर सुलझा जब 1835 ई. में लॉर्ड मैकाले को सामान्य समिति का अध्यक्ष बनाया गया। वह गवर्नर जनरल के कार्यकारणी परिषद के कानूनी सदस्य भी थे। जब यह मामला उनके सामने पेश किया गया तो 2 फरवरी, 1835 को उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में फैसला दिया। प्राच्यवादियों ने इसका विरोध किया लेकिन 7 मार्च, 1835 को विलियम बेंटिक ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अनुसार पूरे देश में अंग्रेजी शिक्षा पढ़ायी जायेगी। जाहिर है यह प्रस्ताव आंग्लवादियों के पक्ष में था। प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि ब्रिटिश सरकार यूरोपीय भाषा और विज्ञान को पूरे भारत में आम करेगी और पूरा कोष अंग्रेजी भाषा को विकसित करने के लिए खर्च किए जाने लगे। यह प्रस्ताव कई अर्थों में विशेष था। यह ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार की ओर से पहली शिक्षा नीति की घोषणा थी।

इस प्रस्ताव का सीधा प्रभाव यह पड़ा कि जो छात्र/छात्राएं प्राच्यवादी शिक्षा संस्थानों में पढ़ते थे उनकी छात्रवृत्ति रोक दी गयी। प्राच्यवादी शिक्षा के लिए जो खर्च हो रहे थे उसे भी रोक दिया गया। उनके प्रकाशन का कार्य भी प्रभावित होने लगा। इस प्रस्ताव के बाद यह मान लिया गया कि देश में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही होगा। अत: 1837 ई. में फारसी को न्यायालय की भाषा से हटा दिया गया और वहां का कारोबार भी अंग्रेजी भाषा में होने लगा। इससे भारतीय मुसलमानों के प्रबुद्ध वर्ग बुरी तरह प्रभावित हुए। मामला उस समय और भी बिगड़ गया जब लॉर्ड हार्डिंग ने 1844 में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसके अनुसार हर प्रकार के पदों में उन लोगों को वरीयता दी जायेगी जो अंग्रेजी पढ़ और लिख सकते हैं। इस तरह अंग्रेजी भाषा का महत्व बढ़ गया। उसे जीवन-यापन के स्रोत के रूप में देखा जाने लगा।

अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा क्यों दिया? निश्चित रूप से उनका यह कदम उनके अपने स्वार्थ के लिए था। यद्यपि इससे देश विकास की ओर अग्रसर हुआ। मैकाले के अनुसार अंग्रेजी भाषा भारतीय भाषाओं या अरबी आदि से बढ़कर थी। वे एक ऐसे भारत का निर्माण करना चाहते थे जो खून और रंग की दृष्टि से तो भारतीय हों लेकिन अपनी रुचि, विचार और नैतिक आचरण की दृष्टि से अंग्रेज हों। यदि एक बार भारतीय मानसिक रूप से अंग्रेजी सांचें में ढल जायेंगे तो फिर उन पर हमेशा के लिए राज करना आसान हो जायेगा। इसका मुख्य कारण यह था कि ऐसे भारतीय नागरिक अंग्रेजी शासन के अधिक वफादार सिद्ध होंगे और वे आसानी से ब्रिटिश मान्यताओं और उनके उत्पाद को स्वीकार कर लेंगे।

एक बहुत बड़ी कमी या खामी मैकाले के माइनूर और विलियम बेंटिंक के प्रस्ताव में यह थी कि इसमें सबके लिए शिक्षा का आह्वान नहीं किया गया था। ऐसा सोचा गया था कि सरकार की जिम्मेदारी केवल पढ़े-लिखे ऊंचे तबके के लोगों तक ही सीमित थी। उनका विश्वास यह था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ही अन्य लोगों तक शिक्षा और साइंस की जानकारी देंगे। दुर्भाग्य से ऐसा संभव नहीं हो सका और अन्य भाषाओं की—सरकार और पढ़े-लिखे लोगों—दोनों ही ओर से अनदेखी की गयी।

वुड्स डिस्पैच (1854)

1853 तक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ तरक्की हुई और कुछ स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की गयी। लेकिन अभी भी शिक्षा का प्रभाव जन-साधारण तक नहीं पहुंचा था। इंग्लैंड के गृह मंत्रालय ने सोचा कि सरकार की यह जिम्मेदारी है कि शिक्षा को घर-घर तक पहुंचाए।

19 जुलाई, 1854 ई. को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर ने बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड की निगरानी में एक डिस्पैच भेजा। डिस्पैच के अनुसार: ''हम भारत में शिक्षा के प्रचार के माध्यम से कला, विज्ञान, दर्शन शास्त्र और यूरोपीय साहित्य को बढ़ाना देना चाहते है और यूरोपीय ज्ञान को भारत तक पहुचांना चाहते हैं।'' वुड का यह डिस्पैच ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति का सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज था। और इसीलिए उसे Magna Carta of English Education of India कहा जाता है।

वुड्स के डिस्पैच की प्रस्तावित बातें

1. सभी के लिए शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराना सरकार की जिम्मेदारी है। सरकार इसे गंभीरतापूर्वक ले।
2. शिक्षा के प्रचार-प्रसार में अंग्रेजी और देशी-भाषायी शिक्षा दोनों पर ध्यान दिया जाए।
3. प्रत्येक भारतीय रियासत में शिक्षा का अलग से विभाग कायम किया जाए।
4. लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने की व्यवस्था करें और दूसरी जगहों के छात्र/छात्राओं का टेस्ट लिया करें।
5. ऐसी संस्थाएं स्थापित की जाएं जहां शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जा सके।
6. नये मिडिल स्कूल विशेषकर देशी-भाषायी स्कूलों और तकनीकी संस्थानों की स्थापना की जाए।
7. एक ऐसी व्यवस्था विकसित की जाए जिसके द्वारा निजी स्कूलों और कॉलेजों की वित्तीय सहायता की जा सके।
8. महिलाओं को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

वुड के डिस्पैच का महत्व एच.आर. जेम्स के विचार से भी पता चलता है। उन्होंने लिखा है: ''1854 का डिस्पैच भारतीय शिक्षा के इतिहास का स्वर्णिम अध्याय था। उससे पहले जो कुछ हुआ था, सब उसमें था, और उसके बाद जो कुछ हुआ, उसी का अगला अध्याय था।''

वुड के डिस्पैच के अधिकांश भागों पर अमल हुआ। कलकत्ता, मद्रास और बंबई में नये विश्वविद्यालय खोले गये। लेकिन सरकार का विचार था कि हमें और आगे बढ़कर शिक्षा के क्षेत्र में कुछ करना चाहिए, विशेष रूप से प्राइमरी लेवल पर यह जरुरी है।

हंटर शिक्षा आयोग (1882-83)

सरकार ने डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर के चेयरमैनशिप में एक आयोग का गठन किया जिसका उद्देश्य वुड्स के डिस्पैच की समीक्षा करना था। आयोग ने 1883 में अपनी रिपोर्ट पेश की।

हंटर एजुकेशनल कमीशन द्वारा की गयी अनुशंसा

1. प्राइमरी शिक्षा को देशी-भाषायी भाषाओं द्वारा अधिक महत्व दिया जाना। प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेदारी जिला प्रशासन और म्यूनिस्पलटी बोर्ड को देने की अनुशंसा।
2. उच्च शिक्षा के मामले में विश्वविद्यालयों पर सरकार के कंट्रोल को कम करना। विश्वविद्यालयों को यह अधिकार मिलना चाहिए ताकि वह अपनी रूप-रेखा स्वयं तैयार कर सके।

3. माध्यमिक शिक्षा को दो भागों में विभाजन : (1) साहित्यिक शिक्षा, जो यूनिवर्सिटी स्तर तक होगी। (2) वोकेशनल स्टॅडीज।
4. धर्मनिरपेक्ष एवं नैतिक शिक्षा पर जोर।
5. स्कूलों में पुस्तकालय और फर्नीचर उपलब्ध कराना।
6. महिलाओं की शिक्षा पर विशेष जोर क्योंकि आयोग महिलाओं की शिक्षा से संतुष्ट नहीं था।

केवल स्कूल और कॉलेज ही नहीं, बल्कि दो विश्वविद्यालयों—पंजाब (1882) और इलाहाबाद (1887)—की स्थापना भी 19वीं शताब्दी के अंतिम दो दशक में हुई। पश्चिमी शिक्षा के साथ-साथ प्राच्यवादी शिक्षा को भी समान महत्व दिया गया। शैक्षणिक संस्थान विशेषकर विश्वविद्यालयों ने लोगों को राष्ट्रवाद की ओर लाने में पहली भूमिका निभायी। लॉर्ड कर्जन की सरकार ने इसे पसंद नहीं किया क्योंकि उसके अस्तित्व को ही इससे खतरा था। वे चाहते थे कि विश्वविद्यालयों पर सरकार का अधिक नियंत्रण रहे।

रैले आयोग (Releigh commission) और भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904

जनवरी 1902 में थोमस रैले, जो कि वायसराय के कार्यकारणी समिति का सदस्य था, के नेतृत्व में एक आयोग का गठन किया गया। इस आयोग में दो भारतीयों—सैयद हुसैन बिलग्रामी और गुरुदास बनर्जी—को भी सदस्य नियुक्त किया गया। रैले आयोग की रिपोर्ट के आधार पर ही भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम-1904 पारित किया गया।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम-1904 द्वारा सुझाए गये प्रस्ताव

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम-1904 द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव सुझाये गये :

1. यूनिवर्सिटी सीनेट में फेलो सदस्यों की संख्या 50 से कम या सौ से अधिक नहीं होगी।
2. यूनिवर्सिटी के फेलो को सरकार ही मनोनीत करेगी।
3. यूनिवर्सिटी के सीनेट द्वारा पारित किसी भी प्रस्ताव को सरकार वीटो कर सकती है। सरकार नया रेगूलेशन ला सकती है या सुझाए गए रेगूलेशन में संशोधन कर सकती है।
4. कॉलेज को मान्यता प्रदान करने या न करने के लिए सरकार की संतुति अनिवार्य होगी। विश्वविद्यालय का यह अधिकार सरकार अपने हाथ में ले लेगी। लेक्चरों और प्रोफेसरों की नियुक्ति के लिए भी सरकार से अनुमति लेना आवश्यक होगा।
5. विश्वविद्यालयों में परास्नातक पाठ्यक्रम भी शुरू किए गए। उनकी केवल परीक्षा ही नहीं होगी बल्कि उनकी कक्षायें भी आयोजित की जायेंगी।

यह एक्ट विश्वविद्यालयों को यह दिशा-निर्देश देता है कि वे शिक्षा के प्रति अपनी भूमिका पर ध्यान दें, विशेषकर शोध कार्यों और शिक्षा के क्षेत्र में। इससे सरकार की मंशा साफ़ जाहिर हो जाती है। सरकार चाहती थी कि राष्ट्रीय सोच को पनपने न दिया जाए। बुद्धिजीवियों ने सरकार की इस सख्ती को महसूस किया और वे आगे बढ़कर अपने शैक्षणिक संस्थान खोलने लगे। लेकिन इन सारी कोशिशों के उपरांत पढ़े-लिखे लोगों की संख्या केवल 6 प्रतिशत थी।

फरवरी, 1913 में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें सरकार ने राज्य सरकारों को यह निर्देश दिया कि वे गरीबों और पिछड़े हुए लोगों को बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था करें। इस प्रस्ताव में यह भी जोर दिया गया था कि स्कूल का रख-रखाव अच्छा हो और प्रत्येक प्रोविंस में विश्वविद्यालय खोले जाएं।

सैडलर विश्वविद्यालय आयोग, 1917-19

भारत सरकार ने 1917 में सैडलर आयोग का गठन किया ताकि वह कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन करके रिपोर्ट दे। इस आयोग ने भी स्कूल शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक का

अध्ययन किया। रैले आयोग की तरह इस कमीशन में भी दो भारतीय सदस्यों की नियुक्ति की गयी। वे थे सर अशुतोष मुखर्जी और जियाउद्दीन अहमद।

सैडलर विश्वविद्यालय आयोग की अनुशंसा

1. स्कूल पाठ्यक्रम 12 वर्षों का होगा। मैट्रिक पास करने के बाद छात्रों को इंटर कॉलेज से इंटर मीडिएट परीक्षा पास करनी होगी। कमीशन ने अलग से बोर्ड की स्थापना करने की अनुशंसा भी की और कुछ चुने हुए स्कूल को उससे अनुबंधित भी किया।
2. डिग्री कोर्स के लिए 3 वर्ष की अवधि सुनिश्चित की गयी। आनर्स कोर्स को रेगूलर पास कोर्स से अलग विशिष्ट हैसियत दी गयी।
3. स्वशासित संस्थाओं को प्रोत्साहित किया गया।
4. केंद्रीय आवासीय शैक्षणिक विश्वविद्यालयों को प्रोत्साहित किया गया। उन संस्थाओं को अपने दैनिक क्रियाकलापों के लिए आजादी भी दी गयी।
5. महिलाओं की शिक्षा को बड़े पैमाने पर प्रोत्साहित किया जाये। इस उद्देश्य के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में महिलाओं की शिक्षा के लिए एक विशेष बोर्ड की स्थापना हो। इसे दूसरी सुविधायें भी उपलब्ध करायी जाएं जिससे अधिक से अधिक महिलाएं स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों में दाखिला ले सकें।
6. शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए और उसके लिए कलकत्ता और दकन विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभाग खोला जाए।

सैडलर आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि अधिक से अधिक विश्वविद्यालय खोले जायें ताकि शिक्षा का प्रसार संभव हो सके और शिक्षा का स्तर ऊंचा हो। 1916 से 1921 तक, सात विश्वविद्यालय खोले गये। ये थीं: पटना विश्वविद्यालय, मैसूर विश्वविद्यालय, बनारस विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, ढाका विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय और उसमानिया (हैदराबाद) विश्वविद्यालय। इसके अलावा कुछ लोगों ने व्यक्तिगत स्तर पर कॉलेजों एवं सैडलर यूनीवर्सिटियों की स्थापना की। जी.के. कर्वे ने 1916 में पूना में इंडियन वुमेन सैडलर यूनीवर्सिटी की स्थापना की। रविंद्र नाथ रैगोर ने 1921 में शांतिनिकेतन में विश्वभारती की स्थापना की।

बंगलौर में इंडिया इस्टीच्यूट ऑफ साइंस (1911), देहरादून में फौरेस्ट रिसर्च इंस्टीच्यूट (1914) और धनबाद में इंडियन स्कूल ऑफ माइन्स (1926) आदि कुछ शैक्षणिक संस्थान थे जिसे सरकार ने कायम किया।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1919 के तहत शिक्षा विभाग मंत्रियों के अधीन कर दिया गया लेकिन चूंकि मंत्रियों के अधिकार सीमित थे इसलिए वे इस क्षेत्र में कुछ अधिक नहीं कर सके।

हरटौग समिति, 1929

इंडिया स्टेच्यूटोरी कमीशन ने एक कमेटी का गठन किया, जिसके चेयरमैन सर फिलिप हरटौग (Sir Phillip Hartog) थे। उस कमेटी को शिक्षा के विकास की विस्तृत रिपोर्ट पेश करनी थी। इस रिपोर्ट का मुख्य निष्कर्ष यह था।

''प्राइमरी शिक्षा को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इस पर अधिक ध्यान केंद्रित होना चाहिए ताकि उसका विकास संभव हो सके। छात्रों को विश्वविद्यालय स्तर में प्रवेश के लिए स्कूल स्तर पर ही चेक किया जाना चाहिए। मिडिल स्टेज में ही छात्रों को शैक्षिक और व्यावसायिक कोर्सो में से किसी एक को चुन लेना चाहिए। केवल चुने हुए छात्रों को ही उच्च शिक्षा हासिल करने की अनुमति दी जानी चाहिए। तभी विश्वविद्यालय के स्तर और गुणवत्ता को बनाये रखना संभव हो सकेगा।

बेसिक शिक्षा की वरधा स्कीम

सरकारी योजना के अलावा महात्मा गांधी के नेतृत्व में इंडियन नेशनल कांग्रेस ने शिक्षा की एक योजना बनायी जो 'बेसिक शिक्षा' के नाम से मशहूर हुई। इसी योजना को 'वर्धा योजना' भी कहा जाता है। प्रसिद्ध शिक्षाविद डॉ. जाकिर हुसैन, जो देश के राष्ट्रपति भी रह चुके हैं, की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस कमेटी का उद्देश्य इस बात का पता लगाना था कि उस योजना को विभिन्न राज्यों में किस तरह कार्यान्वित किया जाए।

'बेसिक शिक्षा' का मुख्य उद्देश्य था "Learning through Activities". गांधी जी का विचार था कि शिक्षा को उद्योग धंधों से जोड़ा जाना चाहिए। यद्यपि यह योजना द्वितीय विश्व युद्ध (1939-45) की वजह से स्थगित कर दी गयी। इसका एक कारण यह भी था कि कांग्रेस के मंत्रियों ने 8 रियासतों में त्यागपत्र दे दिया था।

सर्जेंट की शिक्षा-योजना, 1944

सर जॉन सर्जेंट भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। उन्हीं के नेतृत्व में राष्ट्रीय शिक्षा योजना की रूप-रेखा तैयार की गयी।

इस योजना के अनुसार 6 वर्ष से 11 वर्ष तक के बच्चों के लिए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी। 11 वर्ष से 17 वर्ष तक के बच्चों को भी शिक्षा की सुविधा प्रदान की जायेगी। हाई स्कूल दो तरह का हुआ करेगा।

1. शैक्षिक स्कूल
2. तकनीकी या व्यावसायिक स्कूल

इंटर मीडिएट कोर्स को समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह स्कूल और कॉलेज की शिक्षा में एक-एक वर्ष की बढ़ोतरी कर दी गयी।

राधाकृष्ण आयोग, 1948-49

स्वतंत्रता के बाद 1948 में शिक्षा आयोग का गठन हुआ जिसका चेयरमैन डॉ. राधाकृष्णन को बनाया गया। वे जाने माने शिक्षाविद् थे जो बाद में भारत के राष्ट्रपति चुने गये। अगस्त 1949 में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी।

राधाकृष्णन आयोग द्वारा पेश किये गये प्रस्ताव

1. शिक्षा का भारतीयकरण।
2. ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना—जामिया मिल्लिया इस्लामिया की तर्ज पर जिसे दिल्ली के ओखला गांव में कायम किया गया।
3. विश्वविद्यालय की शिक्षा से पहले 12 वर्षीय पाठ्यक्रम।
4. कृषि, कॉमर्स, इंजीनियरिंग, तकनीकी विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान आदि विषयों पर विशेष ध्यान दिया जायेगा जिससे देश का बौद्धिक विकास संभव हो सकेगा।
5. प्रशासनिक सेवा के लिए विश्वविद्यालय की डिग्री अनिवार्य नहीं होगी।
6. परीक्षा के दिनों को छोड़कर विश्वविद्यालय में कम से कम 180 दिन काम हुआ करेंगे।
7. परीक्षा के स्तर को ऊंचा उठाने के उद्देश्य से ट्यूटोरियल क्लासों और सेमीनार के आयोजनों को विश्वविद्यालय के क्रिया-कलापों में शामिल किया जायेगा।
8. विश्वविद्यालय की शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल किया जायेगा और परीक्षाओं का एकीकृत प्रारूप होगा।

9. शिक्षकों के वेतन में वृद्धि होगी।
10. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को स्थापित किया जायेगा और उससे विश्वविद्यालय को वित्तीय सहायता दी जायेगी।

प्रेस

भारत में प्रिंटिग प्रेस सबसे पहले पुर्तगाली ही लाए और गोवा के जैसूट (Jesuits of Goa) ने 1557 ई. में पहली किताब छापी। यह भी एक आश्चर्यजनक सच्चाई है कि यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1684 ई. में प्रिंटिंग प्रेस बंबई में खोला, लेकिन समाचार-पत्र प्रकाशित होने में लगभग सौ वर्ष लग गये।

'द बंगाल गज़ेट' या 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइज़र' भारत में छपने वाला पहला समाचार-पत्र था। जेम्स आगस्टस हिक्की ने 1780 में इसे प्रकाशित करना शुरू किया। लेकिन दो वर्ष के भीतर ही उनकी प्रेस को सील कर दिया गया। हिक्की ने अपने समाचार-पत्र के द्वारा सरकार, गवर्नर जनरल और मुख्य न्यायाधीश पर लगातार हमले किये और उनकी कटु आलोचना की। फिर तो कई समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे। और वे अपने अस्तित्व को इसी तरह बचा सके कि वे अधिकारियों को ग़लत रूप में पेश नहीं करते थे।

राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे, जिन्होंने भारतीय भाषा में समाचार-पत्र प्रकाशित किया। वह विकास के अमल को अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के लिए नहीं रोकना चाहते थे। वे आम लोगों के नेता थे और चाहते थे कि उनके विचार लोगों की अपनी भाषा में उन तक पहुंचे। उनका "संवाद कौमुदी" भरतीय भाषा में प्रकाशित होने वाला पहला समाचार-पत्र था। उन्होंने फ़ारसी में भी एक समाचार-पत्र निकाला जिसका नाम "मीरातुल अखबार" था। राजा राम इस दृष्टि से भी पहले भारतीय थे जो किसी अखबार के संपादक भी थे और मालिक भी।

19वीं शताब्दी में अनेक अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं में समाचार-पत्र छपे। मीडिया के महत्व और देश के विकास में उसकी भूमिका के प्रति लोगों में जागृति आने लगी। लोगों को ऐसा विश्वास जगा कि सिर्फ़ समाचार-पत्र ही सरकार और आम नागरिकों के बीच सेतु का काम कर सकता है। भारतीय लोगों को यह जानने का अधिकार है कि सरकार की नीतियां क्या हैं? और यह केवल प्रिंट मीडिया के द्वारा ही संभव था। समाचार-पत्र के द्वारा अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों की भी जानकारी होती थी। वे भारतीय नागरिकों की दयनीय स्थिति और किसानों, मजदूरों, कबायलियों, महिलाओं और गरीबों की परेशानियों को खोल कर बयान करते थे। ये समाचार-पत्र यूरोपीय देशों की घटनाओं का विवरण भी छापते थे जिससे पाठकों का दृष्टिकोण विकसित होता था। इन्होंने विचारों, राष्ट्रीयता की भावनाओं और मानव मूल्यों को फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने सामाजिक कूरीतियों के खिलाफ़ भी आवाज बुलंद की।

सेंसरशिप और प्रेस की आजादी

लॉर्ड वेलेसली ने 1799 में फ्रांसीसी हमले की आशंका से पहली बार सेंसरशिप लगायी। सेंसरशिप ऑफ प्रेस एक्ट-1799 के तहत यह अनिवार्य कर दिया गया:

(अ) प्रकाशक को अपनी समस्त प्रकाशन सामग्री सरकार के सचिव को सेंसरशिप के लिए पहले ही पेश करनी होगी।

(ब) समाचार-पत्रों में प्रकाशक, संपादक और उसके मालिक का नाम और उसका पता साफ़-साफ़ छापना होगा।

यद्यपि लॉर्ड हैस्टिंग ने इस प्री-सेंसरशिप में ढील दे दी लेकिन जॉन एडम ने जो उस समय कार्यकारी

गवर्नर जनरल थे ने 1823 में एक प्रेस रेगूलेशन बनाया। इस प्रेस रेगूलेशन के अनुसार:

(क) प्रेस खोलने या उसका प्रयोग करने से पहले प्रिंटर और प्रकाशक को लाइसेंस लेना होगा।

(ख) यदि कोई समाचार-पत्र बगैर लाइसेंस हासिल किये प्रकाशित होता है तो उसे 400 रुपये का जुर्माना किया जायेगा।

(ग) गवर्नर जनरल को यह अधिकार होगा कि वह जिसका चाहे लाइसेंस रद्द कर दे।

इस रेगूलेशन को लागू करने का उद्देश्य यह था कि भारतीय भाषा में छपने वाले समाचार-पत्रों को काबू में रखा जाए ताकि वे वास्तविकता को आम लोगों के सामने न ला सके। उदाहरणार्थ राजा राम मोहन राय के अखबार ''मीरातुल अखबार'' को इसी वजह से बंद कर दिया गया।

लॉर्ड विलियम बेंटिंक (1825-35) और चार्ल्स मैटकाफ (1835-36) को भारतीय प्रेस को आजादी देने वाला कहा जाता है क्योंकि इन दोनों गवर्नर जनरलों ने प्रिंट मीडिया को अभिव्यक्ति की आजादी प्रदान की।

अब नये प्रेस अधिनियम के अनुसार:

(क) मुद्रक और प्रकाशक को अपने प्रकाशन स्थल की पूरी घोषणा करनी होगी।

(ख) मुद्रक और प्रकाशक ऐसी घोषणा के बाद उस समाचार पत्र को छाप सकेंगे।

मैटकाफ की इस उदार नीति के बाद अनेक भारतीयों ने अखबार निकालने का साहस जुटाया। लेकिन 1857 की बग़ावत के बाद एक बार फिर लाइसेंस राज की शुरूआत हो गयी। अधिनियम संख्या XI-1857 ने लाइसेंस को जरुरी करार दिया।

इस अधिनियम के अनुसार बिन वैद्य लाइसेंस प्राप्त किये किसी प्रिंटिंग प्रेस का प्रयोग करना पूरी तरह वर्जित कर दिया गया। सरकार को यह अधिकार दे दिया कि वह जिस अखबार, किताब या प्रकाशित सामग्री को चाहे प्रतिबंध लगा सकती है।

1857 का अधिनियम आपात-काल कानून के तहत था और केवल एक वर्ष तक जारी रहा। मैकाले का रेगूलेशन फिर से शुरू हो गया। लेकिन सरकार की नीतियों पर होने वाले लगातार हमले और क्षेत्रीय अखबारों की सरकार विरोधी टिप्पणियों विशेषकर 1870 में 'अकाल' और 1877 में 'दिल्ली दरबार' की सक्रियता ने सरकार को रुष्ट कर दिया।

वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट 1878

सरकार के बढ़ते विरोध को देखते हुए लॉर्ड लिटन की सरकार ने मार्च 1878 में एक अत्यधिक विवादास्पद प्रेस एक्ट लागू किया। इस एक्ट के तहत:

- मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दे दिया गया कि वे मुद्रक/प्रकाशक से चाहे वह किसी भी क्षेत्रीय भाषा का हो, एक बांड भरने के लिए मजबूर कर सकता है कि वह सरकार के विरुद्ध कुछ भी नहीं छापेगा। या ऐसा कुछ भी नहीं छापेगा जिससे लोगों, जातियों या धर्मों के लोगों के बीच द्वेष बढ़े। प्रिंटर/पब्लिशर को जमानत राशि मजिस्ट्रेट के पास जमा करानी होगी ताकि यदि वह बांड के अनुसार काम नहीं करता है तो उसकी जमानत राशि जब्त कर ली जायेगी। यदि किसी मामले में यह अपराध दोहराया जाता है तो प्रेस और उससे जुड़ी हुई समस्त चीजें जब्त कर ली जायेंगी।
- मजिस्ट्रेट का फैसला ही अंतिम होगा और अदालन में उसे चुनौती नहीं दी जा सकेगी।
- एक्ट से बचने के लिए प्रत्येक देशी अखबारों के लिए यह अनिवार्य दिया गया कि वे अपने अखबार की प्रत्येक कॉपी सरकार के सेंसर में पेश करे। ताकि उसकी जांच हो सके।

जाहिर है इस अधिनियम की राष्ट्रवादियों में सख़्त अलोचना हुई और इस अधिनियम को मुंह बंद

करवाने वाला अधिनियम करार दिया। यह देश की आवाजों को जबरदस्ती दबा देने वाला कानून था। इस कानून में पक्षपात से काम लिया गया था क्योंकि यह केवल देसी अख़बार के लिए था। अंग्रेजी में छपने वाले अख़बार पर यह कानून लागू नहीं होता था।

कुछ समाचार-पत्रों जैसे ''सोम प्रकाश'', ''ढाका प्रकाश'' 'द भारत मिहिर' और 'समाचार' आदि को इस एक्ट का निशान बनना पड़ा। 'अमृत बाजार पत्रिका' का प्रकाशन अंग्रेजी में शुरू किया गया। लेकिन विभिन्न ओर से होने वाले विरोध के कारण वर्नाकुलर प्रेस एक्ट के खिलाफ़ 1882 में लॉर्ड रिपन की सरकार के सामने अपील की गयी।

राष्ट्रवाद का विस्तार, स्वदेशी आंदोलन (1905) और क्रांतिकारी आंतकवादी आंदोलन की वजह से ब्रिटिश सरकार के सामने यह एक बड़ी समस्या थी। समाचार-पत्रों, जरनलों, पंफ़लेटों और प्रेरक प्रकाशित सामग्रियों की भरमार होने लगी। असल में तब तक देश-प्रेम और मातृभूमि के लिए कुछ कर लेने और कुछ हो जाने की भावना बड़े पैमाने पर जागृत हो चुकी थी। पाठकों, विशेषकर बंगाली पाठकों में कई गुना वृद्धि दर्ज की गयी।

सरकार विरोधी भावनाएं प्रबल होती जा रही थीं और नौजवानों ने विदेशी सरकार के सामने घुटने टेकने से इन्कार कर दिया था।

ऐसी स्थिति में समाचार-पत्र अधिनियम-1905 पारित किया गया।

इस अधिनियम के तहत मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दे दिया गया कि वह किसी भी प्रिंटिंग प्रेस और उसकी सभी संपत्तियों को कुर्क कर सकता है यदि वह आपत्तिजनक सामग्री छापे, या हिंसा के लिए प्रोत्साहित करे या भड़काऊ जानकारी परोसे। संपादकों और मुद्रकों को यद्यपि यह अधिकार दिया गया था कि वह 15 दिनों के भीतर उच्च न्यायालय में अपने खिलाफ़ की गयी कार्यवाई के खिलाफ़ अपील कर सकता है।

भारतीय प्रेस अधिनियम, 1910

भारतीय प्रेस अधिनियम, 1910 ने स्थानीय प्रशासन को यह अधिकार मिल गया कि वह समाचार-पत्रों के प्रिंटिंग प्रेस से जमानत राशि जमा करवा ले ताकि यदि अखबार आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करने का दोषी पाया जाए तो उसकी जमानत राशि जब्त कर ली जाए।

यद्यपि अख़बार इस जब्ती के ख़िलाफ़ उच्च न्यायालय के विशेष ट्रिब्यूनल के पास दो महीने के अंदर अपील कर सकता है।

मुद्रक को सरकार के पास अपने अखबार के प्रत्येक अंक की 2-2 कापियां जमा करानी होंगी।

मुख्य सीमा शुल्क अधिकारी को यह अधिकार दे दिया गया कि वह ऐसे किसी भी पैकेट को रोक सकता है जिसमें आपत्तिजनक सामग्रियां ले जायी जा रही हों।

भारतीय प्रेस अधिनियम, 1931

सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-31) के दौरान इंडियन प्रेस (इमर्जेंसी पावर) एक्ट-1931 पारित हुआ जिसने राज्य सरकारों को अनेक अधिकार प्रदान कर दिये जिससे वे राष्ट्रवादियों की आवाज को दबा सके। प्रेस एक्ट 1930 को बदलकर क्रिमिनल एमेंडमेंट एक्ट-1930 में बदल दिया गया। इस एक्ट के तहत प्रकाशक या मुद्रक को कठोर दंड दिया जायेगा यदि वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को भड़काएगा या प्रोत्साहित करेगा, या किसी हमले, हत्या या हिंसक घटना की तारीफ़ करेगा।

वास्तविक अर्थों में प्रेस को (1947) के बाद ही आजादी मिल सकी जब संविधान में भाव अभिव्यक्ति को भारतीय नागरिकों के बुनियादी अधिकार मान लिये गये।

तालिका 4.1 *समाचार पत्र*

स.	नाम	वर्ष/स्थान	फाउडंर/संपादक
1.	*बंगाल गजेट*	1780, कलकत्ता	जेम्स ऑगस्टस हिक्की
2.	*इंडिया गजेट*	1787, कलकत्ता	जेम्स ऑगस्टस हिक्की
3.	*मद्रास कोरियर*	1784, मद्रास	जेम्स ऑगस्टस हिक्की
4.	*बंबई हेराल्ड*	1789, बंबई	जेम्स ऑगस्टस हिक्की
5.	*दिग दर्शन* (प्रथम बंगाली मासिक)	1818, कलकत्ता	जेम्स ऑगस्टस हिक्की
6.	*संवाद कॉमूटी* बंगाली साप्ताहिक	1821, कलकत्ता	राजा राम मोहन राय
7.	*मीरातुल अखबार*	1822, कलकत्ता	राजा राम मोहन राय
8.	*बाम्बे समाचार* (गुजारती)	1822, बंबई	राजा राम मोहन राय
9.	*जामे जहांनुमा* (उर्दू)	1822, कलकत्ता	एक अंग्रेजी फिल्म
10.	*बंग दत्ता* (चार भाषाओं-अंग्रेजी, बंगाली, फारसी और हिंदी में एक साथ साप्ताहिक)	1822, कलकत्ता	राजा राम मोहन राय, द्वारका नाथ टैगोर और अन्य
11.	*ईस्ट इंडिया* (दैनिक)	कलकत्ता	हेनरी विवियन डेरीजियो
12.	*बॉम्बे टाइम्स* (जो बाद में 1861 से ***टाइम्स ऑफ इंडिया*** कहलाया)	1838, बंबई	थोमस बेंनेट और रॉबर्ट नाईट
13.	*हिंदू पैट्रियट*	1853, कलकत्ता	गिरीश चंद्र घोष, हरीश चंद्र मुखर्जी
14.	*सोम प्रकाश* (बंगाली)	1858, कलकत्ता	द्वारका नाथ विध्याभूषण
15.	*रास्त गुफ़्तार* गुजराती	1851	दादा भाई नैरोजी
16.	*इंडियन मिरर*	1862, कलकत्ता	देवेंद्र नाथ टैगोर
17.	*बंगाली*	1862, कलकत्ता	गिरीश चंद्र घोष

ईसाई मिशनरियों की गतिविधियां

एक पुरानी कहावत है कि यूरोप के लोग एशिया के देशों में तीन "G" की तलाश में आए थे–Gold, Glory and God. जब यूरोप के लोगों ने भारत में अपनी फैक्टरियां स्थापित कर लीं, ईसाई मिशनरियों ने भी धीरे-धीरे भारत में अपनी गतिविधियां शुरू कर दीं। ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में पुर्तगाली यूरोपियों में सर्वाधिक सक्रिय थे। चूंकि वे बल प्रयोग भी किया करते थे इसलिए जल्द ही लोगों में अलोकप्रिय हो गये।

इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी इस मामले में बहुत ही सचेत रही और उसने प्रारंभिक दिनों में ईसाई मिशनरियों को प्रोत्साहित नहीं किया। कंपनी ने यह घोषणा कर रखी थी कि वह भारतीयों के धर्म के मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। कंपनी अपने व्यापार और साम्राज्य के विस्तार में

अधिक रुचि रखती थी और जब तक ये लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाते वह किसी तरह का उपद्रव नहीं चाहती थी।

18वीं शताब्दी तक ईसाई मिशनरी मुख्य रूप से दक्षिण भारत में ही सक्रिय थी लेकिन 19वीं शताब्दी के आरंभ से वह उत्तर भारत में भी अपना पांव पसारने लगी। विशेषकर बंगाल में मिशनरी गतिविधियां प्रारंभ हो गयीं। चार्टर एक्ट-1813 ने भारत में ईसाई मिशनरियों के प्रवेश और गतिविधियों से हर प्रकार की रोक समाप्त हो गयी जिससे पूरे देश में मिशनरी गतिविधियां बढ़ गयीं।

अनेक ईसाई मिशनरियों में से श्रीरामपुर मिशनरी की भूमिका उल्लेखनीय थी। श्री रामपुर में डैनिश मिशनरी कायम हुई क्योंकि इंग्लिश ईस्ट इंडियन कंपनी ईसाई धर्म को फैलाने में कोई रुचि नहीं दिखला रही थी। इसके संस्थापक विलियम कैरी (William Carey) थे। वे इंग्लैंड के एक छोटे से गांव में मोची का काम करते थे। विलियम वार्ड और जोशुवा मार्शमेन ने उनकी मदद की।

विलियम कैरी और उसके सहयोगी मिशनरियों ने पहली बार भारत सरकार का ध्यान भारत के हिंदू समाज में फैली सामाजिक बुराइयों की ओर आकृष्ट कराया। ये बुराइयां थीं—सती प्रथा, जाति-पाति, छुआ-छूत आदि। उन लोगों ने इन कुरीतियों के खिलाफ़ निरंतर लिखना शुरू किया और सरकार से यह मांग की कि इन बुराइयों पर रोक लगायी जाए।

मई, 1829 ई. में उन्होंने विलियम बेंटिक से अपील की कि वे सती प्रथा पर रोक लगायें। कैरी ने सरकार से यह आग्रह भी किया कि बालिकाओं की हत्या के खिलाफ़ कानून बनाया जाए। इन दोनों अमानवीय कुरीतियों पर ब्रिटिश इंडिया के शासन काल में पाबंदी लगा दी गयी। उन्होंने बहुपत्नीवाद और कुलीनवाद का भी खुलकर विरोध किया। (कुलीनवाद उस रिवाज को कहते थे जिस में शादी के बगैर ही पुरुष किसी महिला को अपनी सेवा के लिए रख लेता था)। आम भाषा में उसे रखैल कहते थे और जमींदारों के यहां यह आम चीज थी। श्रीरामपुर मिशनरी ने दलितों के उत्थान और महिलाओं के कल्याण के लिए भी अनेक आंदोलन छेड़े।

यूरोप और अमेरिका की अनेक मिशनरियां भारत में काम करने लगी थीं। इन मिशनरी संस्थाओं में लंदन मिशनरी सोसायटी, द बापटिस्ट मिशनरी सोसायटी और चर्च मिशनरी सोसायटी उनमें प्रमुख थीं। द बापटिस्ट मिशनरी सोसायटी (श्रीरामपुर मिशन) ने यहां के लोग पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाने के साथ-साथ इन मिशनरियों ने अनेक मानवीय कार्य भी किये। खासकर प्राकृतिक आपदाओं—जैसे अकाल, सूखा, बाढ़ आदि के मौकों पर खुल कर राहत कार्य किए।

दुर्भाग्य से उनके इन कामों का मूल उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार था और वे यह साबित करना चाहते थे कि केवल ईसाई ही पूरी मानवता का विकास चाहता है और दुनिया में जितने भी धर्म हैं, ईसाई धर्म उन सबमें सबसे श्रेष्ठ है।

रोचक बात यह थी कि यूरोप में वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी और स्वतंत्र विचार के लोग मानवीयता की यह कहकर आलोचना किया करते थे कि बाइबिल और चर्च की अनेक शिक्षाएं अप्रमाणिक और अवैज्ञानिक हैं। मिशनरी इन आलोचनाओं से बचना चाहती थी इसलिए अपना ध्यान मानवीय कार्यों पर अधिक दिया करती थी। लेकिन वे मिशनरियां जो भारत में काम कर रही थीं उन्हें इसका आभास हो गया कि मानवीय कार्य अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं।

यहां यह उल्लेख करना भी उचित प्रतीत होता है कि यूरोप की वे संस्थाए जो भारत में काम कर रही मिशनरियों को कोष मुहैया कर रही थीं। वह मानवीय कार्यों के लिए नहीं थे, बल्कि धर्मांतरण के लिए होते थे। लेकिन भारतीय मिशनरियां यह समझ रही थीं कि ये मानवीय कार्य जमीनी सतह पर काम करने का आधार उपलब्ध कराता है।

धर्मांतरण को प्रोत्साहित करने के लिए लॉर्ड डलहौजी की सरकार ने जातीय अस्पृश्यता निवारण अधिनियम-1850 पारित किया जिसके तहत एक व्यक्ति धर्मांतरण के पश्चात भी अपने पुरखों की

सम्पत्ति का वारिस होगा। विकास और शिक्षा आदि में भी मिशनरियों की भूमिका रही है। वे विश्वास करते थे कि पश्चिम की शिक्षा पद्धति ईसाइयत को फैलाने में बहुत सहयोगी सिद्ध होगी।

श्रीरामपुर मिशनरी ने जहां बंगाल में अनेक मिशनरी स्कूल खोले वहीं, अमेरिका की मिशनरी संस्थाएं बंबई और मद्रास में अधिक सक्रिय रहीं। लड़कियों की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया गया। बापटिस्ट फीमेल स्कूल सोसायटी ने जो श्रीरामपुर मिशनरी के तहत काम करती थी, ने ढाका, चिट्टागांव (छत्ताग्राम) और कलकत्ता में स्कूल खोले। लंदन मिशनरी सोसायटी ने 1818 में चिनसुरा में महिला महाविद्यालय खोला।

फीमेल जूवेनाइल सोसायटी ने कलकत्ता में 6 गर्ल्स स्कूल खोले। इसके अलावा चर्च मिशनरी सोसायटी ने बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसी में गर्ल्स स्कूलों की स्थापना की। प्रेसबाइटेरियन चर्च ने देहरादून, सियालकोट और गुजरांवाला में लड़कियों के स्कूल खोले। मेथोडिस्ट ने नैनीताल में लड़कियों के स्कूल खोले, जबकि लूथेरियन चर्च ने गंटूर और मद्रास प्रेसिडेंसी में लड़कियों के स्कूल खोले। ये स्कूल उन हिंदूओं और मुसलमानों के लिए बहुत बड़ा धक्का थे जो लड़कियों की शिक्षा के विरोधी थे।

ईसाई मिशनरियों ने क्षेत्रीय भारतीय भाषाओं—जैसे बंगाली, मराठी, तमिल और तेलुगू के विकास में भी बहुत योगदान किया। उन्होंने इन भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद कराया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया की ईसाइयत का संदेश भाषाओं और क्षेत्रों से ऊपर है।

इन गतिविधियों ने भारतीय बुद्धिजीवियों को भी प्रेरित किया कि वे भी समाज सुधार के क्षेत्र में आगे बढ़े। भारतीय धर्मों और यहां के लोगों और सामाजिक कुरीतियों पर उनके लगातार होने वाले हमलों से भारतीयों में भी जागृति आयी और वे भी उन सामाजिक बुराइयों और कमियों से अवगत हुए।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि छोटे स्तर पर ही सही ईसाई मिशनरियों के कारण ही भारत में सामाजिक चेतना जागी।

बंगाल में पुनर्जागरण—बंगाल में सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलन

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज

''सभी आधुनिक समाज सुधार आंदोलन—शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी की शुरुआत उन्हीं से हुई है और आज भारत में जितने भी समाज सुधारक हैं वे सभी उनके अध्यात्मिक बच्चे हैं।''

—एच.सी. जकरिया, in Renascent India

राजा राममोहन राय, जिन्हें आम तौर पर 'आधुनिक भारत का पिता' कहा जाता है, का जन्म बंगाल के राधानगर में 1774 ई. में हुआ था। वे एक संपन्न जमींदार लेकिन धार्मिक परिवार में पैदा हुए। उन्होंने फ़ारसी, अरबी, और मुस्लिम कानून की शिक्षा पटना में हासिल की और संस्कृत एवं हिंदू शास्त्रों का ज्ञान बनारस में अर्जित किया। 1797 ई. में उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी कर ली। उन्होंने थॉमस वुडफोर्ड के अधीन दीवान की हैसियत से कार्य करना प्रारंभ किया। बाद में वे डिगबी के अधीन काम करने लगे।

उन्होंने अंग्रेजी, मिस्री, लैटिन और हिबरन (बाइबिल की भाषा) भाषा का ज्ञान हासिल किया। उन्होंने बाइबिल और ईसाइयों के अन्य ग्रंथों का भी गहन अध्ययन किया। उन्होंने तांत्रिक विद्या भी सीखी और जैनियों और बौद्धों के दर्शन को भी समझने की कोशिश की। अकबर द्वितीय (मुग़ल सम्राट) ने उन्हें 'राजा' की उपाधि से नवाजा और 1830 में उन्हें इंगलैंड भेजा। 1833 में लंदन के पास एक शहर ब्रिसटल में उनकी मृत्यु हो गयी।

18वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के आरंभ तक भारत अनेक समस्याओं से जूझ रहा था। साम्राज्यवादी

इतिहासकारों ने इसे भारत के "अधंकारमय युग" (Dark era) कहा है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि उस समय देश अनेक सामाजिक कुप्रथाओं को झेल रहा था। सती प्रथा, कन्या भ्रूणहत्या, बहुपत्नीवाद, और कुलीनवाद (रखैल रखने की प्रथा), विधवाओं की समस्या, बाल-विवाह, पंडितों का वर्चस्व, अर्थहीन ख़र्चीली रस्में और अंधविश्वास आदि का भारत में खूब चलन था। राजा राममोहन राय ने सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक पाखंड के खिलाफ़ आवाज बुलंद की। इसके लिए उन्होंने चार तरीके अपनाए:

1. धार्मिक संस्थाओं की स्थापना।
2. पुस्तकों एवं समाचार-पत्रों का प्रकाशन
3. वार्तालाप और वाद-विवाद आदि का आयोजन
4. शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना।

'तोहफात-ए-मुवाहिदीन' उनकी पहली किताब थी, जो 1803 में प्रकाशित हुई। इसमें इस्लाम के प्रभाव और मुताजिला के दर्शन को आसानी से देखा जा सकता है। वे फारसी के महत्वपूर्ण कवि जलालुद्दीन रूमी (1207-73) और हाफ़िज (1310-37) आदि से बहुत प्रभावित थे।

इस्लाम से उन्होंने एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा का विरोध, सामाजिक समानता, ईश्वर और उसके लोगों के परस्पर सम्बंध और जीवन जीने का रास्ता आदि अपनाया।

उन्होंने हिब्रू भाषा में बाइबिल और अरबी में कुरान पढ़ी। उन्होंने ईसा मसीह की खूब प्रशंसा की। उनकी किताब 'The Percepts of Jesus' में इसको बखान किया गया है। उन्होंने कुछ उपनिषदों का बंगाली में अनुवाद भी किया। वे उपनिषद थे— कथा, केन, ईसा, मंडुका, और मांडुक्य (सभी सस्कृंत) आदि। उन्होंने गायत्री मंत्र का अनुवाद भी प्रकाशित किया। उन्होंने शंकराचार्य की रचना "आत्मा, प्रमात्मा और विवेक" का भी अनुवाद किया।

इन साहित्यिक कार्यों का मुख्य उद्देश्य यह था कि वे एकेश्वरवाद को बढ़ावा देना चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि ईश्वर हर जगह है। उसका कोई आकार नहीं होता और फिर वे समाज को समाजिक बुराइयों से दूर करना चाहते थे। हालांकि उन्होंने अपनी किताब "मनजरत-उल-आदियान" में विभिन्न धर्मों की समानताओं को दर्शाया है। उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा हिंदू धर्मों के बारे में फैलाई जाने वाली गलतफ़हमियों को दूर करने की कोशिश भी की है।

यद्यपि उन्होंने अपने लेखों में धार्मिक ग्रंथों—ऋग्वेद, उपनिषद, बाइबिल और कुरान आदि का हवाला दिया है लेकिन अधिक महत्व विवेक और बुद्धि को ही दिया है। ऐसे विचार पर विश्वास जो विवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतारता, उसे रद्द करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी। यही कारण था कि उन्होंने बहुइश्वरवाद, मूर्तिपूजा, सती प्रथा, और हिंदू समाज की दूसरी बुराइयों की खुलकर आलोचना की। उन्होंने एक ही पैमाने से इस्लाम और ईसाइयत को देखा और अनेक इस्लामी शिक्षाओं को अपनाया। लेकिन "दुआ और बद्दुआ" के विचार को रद्द कर दिया। इसी तरह उन्होंने ईसाइमत के तीन खुदा वाले विचार और 'चमत्कार' के विचार को नकार दिया।

राजा राममोहन राय और उनके सहयोगियों ने 1814 ई. में कलकत्ता में "आत्मीय सभा" का गठन किया। उनके सभी साथी मध्यवर्गीय उदार घरानों से संबंधित थे। उनमें प्रमुख थे—द्वारिकानाथ टैगोर (देवेंद्र नाथ टैगोर के पिता), प्रसन्न कुमार टैगोर, कालीशंकर घोसल, वृंदावन मित्रा और राय चंद्र विद्या वर्गीश (ब्रह्मो समाज के पहले आचार्य) आदि।

यद्यपि राजा राममोहन राय ने संतुलन बनाने का भरसक प्रयत्न किया और उदारवादियों और रुढ़िवादियों दोनों का पूरा-पूरा ख्याल रखा लेकिन मुसलमानों से उनका लगाव, इस्लाम, ईसाइमत और पश्चिम की उदारवादी सोच की वजह से हिंदू समाज ने उन्हें सहजता से स्वीकार नहीं किया। विशेषकर ब्राह्मणों ने उनका खुलकर विरोध किया। यही कारण था कि "आत्मीय सभा" में भाग लेने वालों की सख्ंया कम होती गयी और 1819 तक लगभग समाप्त हो गयी।

ईश्वर या ब्रह्मा, राजा राममोहन राय के अनुसार सर्वशक्तिमान और कभी न समाप्त होने वाली आत्मा है। जिससे सभी मानवीय आत्माएं निकलती हैं और मृत्यु के बाद उसी में विलीन हो जाती हैं। केवल एक ब्रह्मा की पूजा की जाए का आह्वान करते हुए राजा राममोहन राय ने 20 अगस्त, 1828 में ब्रह्मो सभा का गठन किया। 1829 में उसी का नाम बदल कर ब्रह्म समाज हो गया। इस समाज की निम्नलिखित बातें प्रमुख थीं:

1. 'समाज' सभी जातियों एवं नस्लों के लोगों को समान रूप से आमंत्रित करता है, जो ब्रह्मा की पूजा अर्चना करना चाहें।
2. मूर्ति, आकृति, प्रतिकृति, चित्र या इस तरह की कोई चीज़ 'समाज' के भवन में नहीं रखी जायेगी।
3. बलि या धार्मिक कर्मकांड 'समाज' के मकान में संपन्न नहीं होगा। पूजा-अर्चना और मंत्र उच्चारण से ही इबादत की जायेगी। राममोहन ने 1829 में 'अनुष्ठान' सकंलित किया जिसमें 'समाज' के अनुयायियों को इबादत का तरीका बताया गया था।

राजा राममोहन राय का सती प्रथा के विरुद्ध सघंर्ष तो जग जाहिर है। उनका कहना था कि सती प्रथा से अन्य परिजनों को खुशी तो हो सकती है लेकिन इससे मरने वाले या उसकी पत्नी को किसी प्रकार का अध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता। वे अपने सहयोगियों के साथ उन जगहों पर जाते, जहां सती होने की संभावना होती और लोगों को इस सिलसिले में जागरुक करने की प्रयास करते। उस समय तक सती प्रथा पर पाबंदी नहीं लगायी गयी थी। उन्होंने अपने प्रयासों से कम से कम दो महिलाओं की जान बचायी। आखिरकार उनके प्रयासों से सन् 1829 में सती प्रथा के खिलाफ़ प्रस्ताव पारित हुआ और सती प्रथा को अवैध करार दिया गया।

सामाजिक रूप में सती प्रथा को न स्वीकार करने का एक और कारण यह भी था कि उस महिला के ससुराल वाले यह नहीं चाहते थे कि मृतक के धन से उसकी विधवा को कुछ हिस्सा दें। बंगाल की अनेक महिलाओं ने अपने अधिकार के लिए अदालत का दरवाजा खटखटाया इसलिए भी लोग नहीं चाहते थे कि वह पति-मृत्यु के बाद जिंदा रहे। राजा राममोहन राय ने हिंदू कानूनों में बदलाव लाने का आह्वान किया ताकि उन विधवाओं को अधिकार दिया जा सके। वे इस बात के भी विरुद्ध थे कि यदि बचपन में ही किसी के पति की मृत्यु हो गयी हो तो वह जीवन-भर विधवा बनकर रहे। उन्होंने इसके विरुद्ध आवाज उठायी और इसके लिए उन्होंने अनेक कट्टरपंथी हिंदूओं की चुनौती स्वीकार की। राधाकान्त देव (धर्म सभा), सुब्रमण्यम शास्त्री(मद्रास), शंकर शास्त्री(मद्रास), मृत्युंजय विपालकार (फोर्ट विलियम कॉलेज) आदि ने राजराममोहन राय के आंदोलन का काफी विरोध किया।

उन्होंने जातिवाद का विरोध किया लेकिन जिंदगी भर जनेऊ पहना। उन्होंने बहुपत्नीवाद और कुलीनवाद का विरोध किया लेकिन स्वयं तीन-तीन बीवियां रखीं। इसीलिए उन पर दोहरी नीति अपनाने का आरोप भी लगा। लेकिन इन सब के बावजूद उन्होंने भारत में जागृति की मशाल रौशन की जिससे पूरा देश जगमगा उठा।

केशव चंद्र सेन

केशव चंद्र सेन का जन्म 1838 ई. में हुआ। उन्होंने 1857 में "गुडविल फ्रैटर्निटी" नाम की संस्था बनायी] जो धार्मिक एवं स्वंयसेवी संस्था थी। देवेंद्र नाथ टैगोर के प्रभाव में आकर वे 1857 में ही ब्रह्म समाज में दाखिल हो गये और सितम्बर, 1859 में उनके साथ श्रीलंका भी गये। उन्होंने सामाजिक एवं राष्ट्रीय कारणों से अपने बैंक की नौकरी त्याग दी।

उन्होंने सरकारी स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली ईश्वरविहीन शिक्षा का विरोध किया। वे चाहते थे कि शिक्षा के उत्थान के साथ-साथ धार्मिक विकास भी हो। उन्होंने धार्मिक विकास को नजर में रखते हुए 'संगत सभा' के नाम से एक दूसरी संस्था भी बनायी।

जब 1860 में भीषण अकाल पड़ा तो ईसाई मिशनरियों ने अकाल पीड़ितों के राहत के लिए एलेक्जेंडर डफ़ के नेतृत्व में अच्छा काम किया। केशव चंद्रसेन ने भी सोचा कि अकाल पीड़ितों को राहत पहुंचाना हमारी भी जिम्मेदारी है। 1862 में ब्रह्म समाज के कार्यकर्ताओं ने आचार्य केशव चंद्र के नेतृत्व में कलकत्ता कॉलेज की स्थापना की। 1861 में उन्होंने अंतरजातीय विवाह भी किया। उन्होंने औरतों को जागरुक करने के लिए 'प्रबोधनी पत्रिका' का प्रकाशन भी शुरू किया। वे अंग्रेजी पाक्षिक 'इंडियन मिरर' के संपादक भी थे।

1864 में केशव देव और उनके नौजवान साथियों ने विधवा-विवाह का आयोजन किया। इस कदम से ब्रह्मो समाज के वरिष्ठ एवं कट्टरवादी लोग रुष्ट हो गये। देवेंद्र नाथ टैगोर भी रुष्ट होने वाले लोगों में शामिल थे। उन्होंने केशव चंद्र और उनके साथियों को ब्रह्म समाज से निष्कासित कर दिया। लेकिन केशव चंद्र की लोकप्रियता बढ़ती गयी। वे जहां जाते उनका मुख्य स्वागत होता। मद्रास में उन्हें 'बंगाल की बिजली' की उपाधि से नवाजा गया।

11 नवम्बर, 1865 ई. को उन्होंने भारतीय ब्रह्म समाज की बुनियाद डाली। इसका सदस्य बनने के लिए किसी की जाति, नस्ल, रंग या लिंग बाधा नहीं बनती थी। उन्होंने अपने समर्थन में ''श्लोक सग्रंह'' प्रकाशित करवाया जिसमें हिंदू शास्त्रों, कुरान, बाइबिल जेंद अवस्थता, और ग्रंथ साहब से उद्धरण लिए गये थे।

1868 में उन्होंने पूरे उत्तर भारत का भ्रमण किया और सभी को साथ मिलकर उठ खड़ा होने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि जब तक बंगाली, पंजाबी और मद्रासी साथ मिलकर राष्ट्र हित में आगे नहीं बढ़ेंगे तब तक कल्याण संभव नहीं। इस तरह केशव चंद्र ने अखिल भारतीय आंदोलन की शुरुआत की और उन्हीं की कोशिशों से 1872 ई. में ब्रह्मो मैरिज एक्ट-पारित हुआ। इस एक्ट के अनुसार लड़कियों के विवाह की, कम से कम आयु 16 वर्ष, लड़कों की आयु 18 वर्ष सुनिश्चित की गयी। विधवा-विवाह की अनुमति मिल गयी। अंतर्जातीय विवाह को भी अनुमति मिली। बहुपत्नी विवाह को गलत बताया गया।

हालांकि उनके जीवन में भी अनेक विरोधाभास मिलता है। वे बाल-विवाह के खिलाफ़ थे लेकिन अपनी 13 वर्षीय बेटी का विवाह 1878 ई. में कूच विहार के महाराजा से कर दिया। नौजवान सदस्य इससे नाराज हो गये और उन्होंने साधारण ब्रह्म समाज बना डाला। बाद में 1880 में उन्होंने दिल में 'नव विधान' का गठन किया। 'नव विधान' की सदस्यता भी सभी जातियों एवं नस्लों के लिए खुली हुई थी।

देवेंद्र नाथ टैगोर

देवेंद्र नाथ टैगोर का जन्म 1817 ई. में हुआ था। उन्हें 'महर्षि' के नाम से भी जाना जाता है। 6 अक्तूबर, 1839 ई. में उन्होंने 'तत्वबोधनी सभा' का गठन किया। सभा का उद्देश्य हिंदूओं के सभी शास्त्रों से बुनियादी सत्य को लेकर एक जगह सकंलित करना था।

और वेदांतों में जो ब्रह्मा की कल्पना है उसे आम करना था। बंगाल के पढ़े-लिखे लोग एवं महिलायें इससे बहुत प्रभावित हुए।

जब देवेंद्र नाथ टैगोर ने 1842 में ब्रह्मवाद को अपनाया उस समय उन्हें समाज के हर वर्ग की आलोचना झेलनी पड़ी। उन्होंने अपनी तत्वबोधनी सभा को ब्रह्मो समाज में मिला लिया। उनके उद्देश्य में थे :

1. ब्रह्म समाज का पुनर्निर्माण।
2. धार्मिक शिक्षा पर विचार-विमर्श।
3. बंगाली भाषा एवं साहित्य का विकास।
4. भारतीय धर्मों एवं भारतीय संस्कृति को मिशनरियों के हमले से बचाना और भारत के धर्म एवं संस्कृति को विदेशी सम्मता की बुराइयों से बचाना।

स्वामी विवेकानंद और राम कृष्ण मिशन

नरेंद्र नाथ दत्त (1863-1902) जिन्हे स्वामी विवेकानंद के नाम से जाना जाता है, राम कृष्ण के वास्तविक अध्यात्मिक उत्तराधिकारी बने। उन्होंने अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा ग्रहण की और वहीं उन्होंने जॉन स्टार्ट मिल, रुसो, हेगेल, डूमा, दांते आदि के दर्शन का अध्ययन किया। वे एक उदार व्यक्ति थे, जबकि रामकृष्ण परमहंस एक परंपरावादी व्यक्ति थे। लेकिन फिर भी दोनों में निकटता आई। संभवतः हिंदुत्व और भारतीय संस्कृति पर मिशनरियों के हमले ने दोनों को एक मंच पर ला खड़ा किया।

विवेकानंद ने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और अशिक्षा और निर्धनता की मार झेल रहे भारत को देखा। 11 सितम्बर, 1893 ई. को वे विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए शिकागो (अमेरिका) गये और वहां पश्चिम की समस्याओं से अवगत हुए। समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं के बावजूद वहां के लोगों को मन की शांति नहीं है। इस तरह वे इस नतीजे पर पहुंचे कि भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में सतुंलन ही वक्त की विशेष आवश्यकता है। उन्होंने अमेरिका को "Sister's and Brother's of America" को सम्बोधित किया। उनकी बातें लोगों के दिल को छू गयीं। उनका भाषण अमेरिका के समाचार-पत्रों की सुर्खी बन गया।

विवेकानंद ने अमेरिका के कई शहरों में वेदांत समाज का गठन किया, अनेक अमेरिकी एवं ब्रिटिश नागरिक उनकेअनुयायी बन गये। उनमें लूसी (अभियानंद), सेंट बर्ग (स्वामी कृपानंद) और मिलमागरेट नाबेल (बहन निवेदिता) प्रमुख हैं।

वे पैरिस, विएना, मिस्र आदि देशों में भी गये और वहां हिंदुत्व और भारतीय सस्कृति के बारे में जो भ्रांतियां फैली हुई थीं उन्हें दूर करने की कोशिश की। जब वे भारत लौटे, उस समय तक वे बहुत प्रसिद्धि हासिल कर चुके थे। 1897 में कलकत्ता के पास बेलूर नामक स्थान पर उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और उत्तरांचल के अलमोड़ा के पास मायावती में एक मठ का निर्माण किया।

शुरु में उनके मिशन ने अकाल पीड़ितों के राहत के लिए काम किया। लेकिन जल्द ही उनके लक्ष्य व्यापक हो गये। उन्होंने धर्मशालायें बनवायीं, अस्पताल खोले, तथा पुस्तकालयों की स्थापना की। इस तरह विवेकानंद का आंदोलन वास्तव में मानवतावादी एवं समाजसेवी आंदोलन था। न कि समाज सुधार आंदोलन। पारंपरिक रीति-रिवाजों एवं मूर्तिपूजा के खिलाफ़ आवाज न उठाकर उन्होंने गरीबी और अशिक्षा के खिलाफ़ आवाज बुलंद की। उन्होंने भारत में अशिक्षा की जिम्मेदारी पढ़े-लिखे लोगों पर डाल दी जो स्वयं तो पढ़-लिख जाते हैं लेकिन अपने अशिक्षित भाई-बहनों के लिए कुछ नहीं करते हैं। उन्होंने नौजवानों में आत्मविश्वास जगाया और लोगों को 'कर्म' करने पर उभारा। उनके विचारों को निम्न वाक्यों में उद्धृत किया जा सकता है।

1. उन्होंने कहा कि सभी धर्म सत्य हैं इसलिए धर्मांतरण की कोई आवश्यकता नहीं है।
2. ज्ञान, कर्म और भक्ति के पथ पर चलकर एक व्यक्ति ईश्वर को पा सकता है।
3. सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाज तभी स्वीकार्य हो सकते हैं, जब वे तर्क की कसौटी पर खड़े उतरें।
4. प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर (के वजूद को) महसूस कर सकता है।
5. उन्होंने भारत को मानवता की जन्म भूमि बताया लेकिन इस बात की आलोचना की कि भारतीय मानवीय मूल्यों को भूलकर जातिवाद और छुआछूत आदि में लिप्त हो गये हैं।
6. गरीबी, बीमारी और निरक्षरता के खिलाफ़ लड़ना सबसे श्रेष्ठ मानवीय कार्य है। उन्होंने सन्यासियों से आह्वान किया कि वे मानवता की सेवा करें। दुनिया त्यागने का विचार छोड़ दें।
7. उन्होंने अंधविश्वास, जातिवाद और छुआछूत का विरोध किया। एक बार उन्होंने कहा था— हमारा धर्म हमारी रसोई तक सीमित हो कर रह गया है और हम अछूत बनकर रह गये हैं। हमारा भगवान हमारे बर्तनों में है और हमारा धर्म कहता है कि हम पवित्र हैं हमें मत छुओ।
8. वे चाहते थे कि भारत पश्चिम से भी कुछ सीखे जैसे महिलाओं का उत्थान आदि।

अध्यात्म को व्यावहारिक रूप प्रदान करना ही विवेकानंद का महत्वपूर्ण काम था। अपने से पहले के समाज-सुधारकों के विपरीत उनकी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। उन्होंने हजारों पढ़े-लिखे भारतीयों विशेषकर हिंदूओं को प्रेरित किया और उनमें आत्मविश्वास जगाया। किन्हीं दूसरे हिंदू समाज-सुधारकों ने शिक्षित हिंदूओं को उतना प्रभावित नहीं किया जितना उन्होंने किया।

सन 1902 में उनकी मृत्यु हो गयी लेकिन उनके द्वारा चलाया गया राम कृष्ण मिशन अब भी चल रहा है और बर्मा, अमेरिका, इंग्लैंड और पाकिस्तान समेत लगभग 34 देशों में यह आज भी सक्रिय है।

राम कृष्ण परमहंस

राम कृष्ण परमहंस कलकत्ता के काली मन्दिर के पुजारी थे। यद्यपि वे बहुत बड़े विद्वान नहीं थे और उन्होंने किसी सस्था से विधिवत डिग्री नहीं ली थी लेकिन उन्होंने तातापुरी से वेदांत की शिक्षा प्राप्त की और गोबिंद दास से सूफ़ीवाद की शिक्षा ग्रहण की। रामकृष्ण को विश्वास था कि सभी धर्म सच्चे हैं। उनके विचार में राम, अल्लाह, ईसू, हरि आदि उसी ईश्वर के अलग-अलग नाम हैं। उन्होंने मूर्ति की पूजा करने को गलत नहीं कहा जैसाकि स्वामी दयानंद सरस्वती और राजा राममोहन राय कहा करते थे। वे ज्ञान से अधिक भक्ति पर जोर दिया करते थे। यद्यपि उनकी शिक्षाओं का आधार प्राचीन और परंपरावादी सिद्धांत ही था लेकिन चूंकि उनकी सोच मानवतावादी थी इसलिए उसमें नयापन आ गया था। उन्होंने एक इंसान को दूसरे इंसान से या एक धर्म को दूसरे धर्मों से अलग नहीं किया। वे कहा करते थे, ''जोटो मट टाटो पथ'' अर्थात ईश्वर तक पहुंचने के अनेक रास्तें हैं, क्योंकि यह आस्था से जुड़े हुए है। वे कहा करते थे, जीवा ही शिवा है। यानी प्रत्येक जीवित प्राणी भगवान है। रामकृष्ण की शिक्षा का मूल यह है कि भगवान ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ नमूना है, चाहे उसकी जिस तरह पूजा की जाए।

अन्य क्षेत्रों में समाज सुधार

प्रार्थना समाज

ब्रह्म समाज का प्रभाव देश के अन्य भागों में भी पड़ा। विशेषकर पश्चिम भारत में इसका प्रभाव उस

समय दिखायी दिया जब 1864 में केशव चंद्र सेन ने महाराष्ट्र का भ्रमण किया। ब्रह्म समाज की पहली शाखा 1849 में अलग हुई और महाराष्ट्र में 'परमहंस सभा' की स्थापना हुई। लेकिन महाराष्ट्र में जिस संस्था का प्रभाव सबसे ज्यादा पड़ा, वह थी "प्रार्थना समाज।"

आत्मा राम पांडुरंग, जगन्नाथ शंकर सेठ, बालशास्त्री जंभेकार, विष्णु शास्त्री बापत, और कृष्ण शास्त्री चिपलंकर ने 1867 में 'प्रार्थना समाज' का गठन किया। राम कृष्ण गोपाल भंडारकर और महादेव गोविंद रनाडे (1842-1901) समाज के प्रमुख बुद्धिजीवी थे। प्रार्थना समाज़ को हिंदू भी कहते हैं।

प्रार्थना समाज ने समाज सुधार को ही अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। आस्था और विश्वास आदि उनके नजदीक द्वितीयक हैसियत रखती थी। उन्होंने महाराष्ट्र के महापुरुषों जैसे—नामदेव, रामदास और तुकाराम आदि को महत्त्व दिया और समाज को अंधविश्वास से ऊपर उठकर सही अर्थों में विकसित करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि भागवान को मानव-सेवा से ही पहचाना जा सकता है।

'प्रार्थना समाज' निम्नलिखित बातों पर विश्वास करता था—

1. ईश्वर एक है, सर्वशक्तिमान, हमेशा रहने वाला है।
2. ईश्वर की आराधना से ही मुक्ति संभव है।
3. 'कर्म ही सब कुछ है' का विरोध करते है।
4. पंडितों, पुरोहितों और मूर्ति पूजा का विरोध करते है
5. वेदों और उपनिषदों की प्रमाणिकता को स्वीकार करते हैं।
6. ईश्वर की भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

प्रार्थना समाज धर्म को संस्थागत मानने से इंकार करता है, जैसे—देवियों की पूजा-अर्चना, या कर्म-कांड आदि। उनके अनुसार धर्म यह नहीं है कि ईश्वर की पूजा की जाए बल्कि धर्म का अर्थ है कि आदमी में मानवीय मूल्यों को परवान चढ़ाया जाए। ईमानदारी, छोटों से प्यार, बड़ों का सम्मान, गरीबों का ध्यान, व्यापार में ईमानदारी आदि को व्यवहार में लाना ही धर्म है। उन्होंने आपस में खान-पान, अंतर्रजातीय विवाह, विधवाओं का पुर्नविवाह, गरीबों के लिए रात्रि स्कूल, विधवाओं के लिए वृद्ध आश्रम और दबे-कुचले लोगों के उत्थान का आह्वान किया। अपने अच्छे कर्मों और उदार नीतियों के कारण प्रार्थना समाज दक्षिण भारत में भी लोकप्रिय हुआ। वीरेशलिंगम पतूंलू ने इस में मुख्य भूमिका निभायी। लेकिन इसका सर्वाधिक प्रभाव बम्बई प्रेसिडेंसी में महसूस किया गया, जहां उसे राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने वाले रूप में देखा गया।

महादेव गोविंद रानाडे

महादेव गोविंद रानाडे एक न्यायाधीश, लेखक एवं समाज सुधारक थे। नासिक के एक ब्राह्मण परिवार में 1842 में उनका जन्म हुआ। वे शुरू में एक स्वतंत्र पत्रकार थे। 1871 में वे पूना में अधीनस्थ न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए। वे तीन अवधियों तक बंबई की सरकार में विधि सदस्य रहे। 1890 में वे बांबे हाई कोर्ट बेंच में शामिल हुए और अपनी मृत्यु तक 1901 वे उस पद पर बने रहे। उन्होंने 1891 में विधवा विवाह संस्थान की स्थापना की। उन्हें भी "Father of Renaissance in West India" कहा जाता है।

स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्य समाज

स्वामी दयानंद सरस्वती एक प्रसिद्ध हिंदू विद्वान थे। उनका जन्म गुजरात के काठियावाड़ इलाके में

मोरवी के स्थान पर 1824 में हुआ। दयानंद (मूल शंकर) को आर्य समाज का संस्थापक समझा जाता है। आर्य समाज की स्थापना 1875 ई. में हुई।

उनके खोजी मन ने परिवार की परंपराओं को तोड़ने का निश्चय कर लिया। दयानंद ने 12 वर्ष की आयु में घर को त्याग दिया और हिंदू योगी के साथ रहना शुरू किया। वे 14 वर्षों तक एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते रहे। उन्होंने उत्तर भारत के समस्त तीर्थस्थानों, हिमालय की गुफाओं का भ्रमण किया। वे एक धर्म गुरु की तलाश में थे। 1860 ई. में उन्हें स्वामी वृजानंद सरस्वती से मुलाकात हुई। वे अंधे थे। दयानंद ने उन्हें अपना गुरु बना लिया।

स्वामी दयानंद ने अपनी यात्रा के दौरान अनेक विद्वानों एवं पंडितों से मिले और धर्म के सिलसिले में उनसे विचार-विमर्श किया। उन्होंने वेदों की ओर लोगों को लाने की कोशिश की जिससे उस समय के पंडितों एवं पुरोहितों के हितों को नुकसान पहुंचा। वे उनके शत्रु हो गये। और कई बार उन पर जानलेवा हमले भी हुए।

उन्हीं दिनों उनकी मुलाकात केशव चंद्र सेन से हुई जिनसे वे बहुत प्रभवित हुए। 1875 में उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' नाम की एक पुस्तक लिखी, जो बनारस से प्रकाशित हुई। स्वामी जी की सोच का केंद्र उनका द्वितवाद था। उनके विचार में ईश्वर और मानव-आत्मा दो अलग-अलग शक्तियां हैं, जो दुनिया को चला रही हैं। उनके विचार में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म का पूरी तरह जिम्मेदार होना चाहिए। हालांकि उन्होंने इस परंपरागत हिंदू सोच को स्वीकार किया कि प्रत्येक आत्मा का कर्म के आधार पर पुर्नजन्म होता है।

उनकी शिक्षा का मूल मंत्र यह था कि शरीर की पांचों इंद्रियों पर काबू पाना चाहिए। नेक और भलाई का काम करना चाहिए और दूसरों का भला सोचना चाहिए। इसीलिए उन्होंने अनेक रीति रिवाज का विरोध किया, जिनको धार्मिक मान्यताएं नहीं थीं। जब दयानंद सरस्वती 1874 ई. में बंबई पहुंचे और वहां महादेव गोविंद रनाडे से मिले, तो उन्हीं के सहयोग से 10 अप्रैल, 1875 ई. में बंबई में आर्य समाज की स्थापना हुई। 1877 में वे लाहौर चले गये। आर्य समाज के मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित थें:

- समाज वेदों को सर्वज्ञ मानता है।
- प्रत्येक राज्य में एक मुख्य आर्य समाज होगा और फिर उसकी शाखाएं होंगी।
- प्रत्येक आर्य समाज अपने सिद्धांतों एवं आचरणों में खड़ा होगा।
- हर आठ दिन पर पूजा-अर्चना और धार्मिक भाषणों का आयोजन होगा जिसमें आर्य समाज के अध्यक्ष, सचिव और अन्य सदस्य भाग लेंगे।
- आर्य समाजी वेदिक मंत्रों का उच्चारण करेंगे।
- समस्त मानव का कल्याण ही उनका मुख्य उद्देश्य होगा।

सामाजिक मामलों के लिए आर्य समाजियों ने निम्नलिखित नियम तय किये :

- ईश्वर ही पिता है, और मनुष्य भाई-भाई हैं।
- लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा।
- सभी को सामाजिक न्याय मिलेगा और उनके कर्मों एवं योग्यताओं के आधार पर उन्हें अवसर मिलेगा।
- सभी के लिए प्यार एवं सहानुभूति।

आर्य समाज आंदोलन वास्तव में पुनर्जागरण आंदोलन था। वे चाहते थे कि आर्य परंपराओं को पुनर्स्थापित किया जाए। उनके विचारों में ये सिद्धांत समय सीमा में नहीं बांधे जा सकते। इससे इस्लाम, ईसाइयत और पश्चिमी सोच के विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हुई। उन्होंने हिंदू सभ्यता एवं सस्कृति, जिसे वे भारतीय संस्कृति कहते थे को बचाने का आह्वान शुरू किया। लेकिन जल्द ही यह शुद्धि आंदोलन में बदल गया। शुद्धि आंदोलन के कारण पंजाब, उत्तर प्रदेश और उत्तर भारत के अन्य राज्यों में साम्प्रदायिक दंगे भड़के जहां आर्य समाज सुदृढ़ स्थिति में था।

बहरहाल आर्य समाज की शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1883 में स्वामी दयानंद सरस्वती की अजमेर में मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद आर्य समाज दो हिस्सों में बंट गया। एक उदार समूह था जिसने 1886 में लाहौर में दयानंद आंग्ल-वेदिक कॉलेज की स्थापना की जहां पश्चिमी शिक्षाओं के साथ भारतीय शिक्षा पद्धति को भी महत्व दिया गया। लाला हंसराज और लाला लाजपत राय उस कॉलेज के संस्थापक सदस्य थे।

दूसरा कट्टरपंथी समूह था जिसका नेतृत्व लाला मुंशी राय (स्वामी श्रद्धानंद) ने किया। इस समूह ने 1902 में हरिद्वार के पास कांगड़ी नामक स्थान पर गुरुकुल विश्वविद्यालय की बुनियाद डाली। रोचक बात यह रही कि ये दोनों शिक्षण संस्थायें हिंदुओं के बीच लोकप्रिय हुई और हजारों छात्रों ने इसमें शिक्षा ग्रहण की।

आर्य समाज आज भी जीवित और सक्रिय है। उनके नेता स्वामी अग्निवेश का नाम उल्लेखनीय हैं।

थियोसोफ़िकल सोसायटी

थियोसोफ़िकल सोसायटी की स्थापना 1875 ई. में न्यूयार्क (अमेरिका) में हुई। एक रुसी-जर्मन महिला मैडम एच.पी. बलावस्की (1831-1891), और एक अमेरिकी कर्नल एच.एस. अल्कोट (1832-1907) ने इस सोसायटी का गठन किया। उनका उद्देश्य एशिया के प्राचीन धर्मों विशेषकर हिंदू, बौद्ध और जोरस्टेरियंस का पुनरुत्थान था।

मद्रास के समीप अदियार 1882 में उसका मुख्यालय बना। हालांकि मैडम लंदन में रहती थीं और कर्नल साहब श्रीलंका के सिलौन में।

सोसायटी के सदस्यों का मुख्य उद्देश्य यह था—

- अध्यात्म के मार्ग से ईश्वर का ज्ञान अर्जित करना, चाहे वह किसी संस्था के माध्यम से हो, या व्यक्तिगत संबंध के आधार पर।
- हिंदू आस्थाओं का प्रचार-प्रसार: जैसे पुनर्जन्म और कर्म आदि।
- उपनिषद के दर्शन से प्रेरणा हासिल करना समख्या, योग, और वेदांत विचारधारा।
- अंतर्राष्ट्रीय अध्यात्मिक भाईचारा।

थियोसोफ़ीस्ट धर्मों में कोई अंतर नहीं करते बल्कि इनका मुख्य उद्देश्य एशिया के प्राचीन धर्मों को पुनर्जीवित करना था। एक थियोसोफ़ी किसी भी धर्म या आस्था का हो सकता था। उनकी सभी धर्मों के अनुसार पूजा-अर्चना की व्यवस्था होती थी।

यह सोसायटी आयरिश महिला ऐनी बेसंट (जन्म 1847) के समय में खूब फली-फूली। अपने पति से अलगाव के बाद वह सोसायटी में 1882 में शामिल हुई और 1893 में भारत आयी। 1907 में वे सोसायटी की अध्यक्ष नियुक्त हुई।

ऐनी बेसेंट विश्वास करती थीं कि आज की समस्त समस्याएं प्राचीन विचारों एवं संस्थाओं विशेषकर हिंदू धार्मिक शिक्षाओं से हल हो जायेंगी। उन्होंने भगवद्गीता का अनुवाद किया। उन्होंने रामायण और महाभारत की कामेंट्री भी लिखी। वे हिंदू सभ्यता एवं संस्कृति से बहुत प्रभावित थी और उन्होंने हिंदू जीवन शैली को अपना लिया।

उन्होंने 1898 ई. में बनारस में सेंट्रल हिंदू स्कूल की स्थापना की। बाद में 1915 में पंडित मदन मोहन मालवीय ने इस स्कूल को कॉलेज में परिवर्तित कर दिया।

धीरे-धीरे ऐनी बेसेंट राजनीति में भी हिस्सा लेने लगीं और 1915 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गयी। 1917 में वे कांग्रेस की पहली महिला अध्यक्ष बनीं। 1916 में उन्होंने होम रुल लीग की भी शुरुआत की थी। और अपनी प्रगतिवादी सोच को अपने समाचार पत्रों — 'न्यु इंडिया' और 'कॉमनवेल्थ' के जरिये खूब उभारा। 1916 में उन्हीं की कोशिशों से तिलक कांग्रेस में वापस आए।

सर सैयद अहमद ख़ान और अलीगढ़ आंदोलन

आधुनिक भारत में समाज सुधारक के रूप में जिस मुसलमान का नाम सबसे ऊपर लिया जाता है वे थे कुत्बुद्दीन अहमद बिन अब्दुर्रहीम। इन्हें दिल्ली के शाह वलीउल्लाह के नाम से भी जाना जाता है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में उन्होंने बहुत नाम कमाया। उन्होंने इस्लामी जीवन व्यवस्था के वर्चस्व को स्थापित करने की कोशिश की। इसके अलावा उनका एक बड़ा कारनामा यह भी था कि उन्होंने आधुनिक सोच और कट्टरपंथी सोच के बीच एक सेतु की भूमिका निभायी। लेकिन उनकी कोशिशों के बावजूद भारतीय मुसलमान इन धुरियों के बीच बंटे रहे।

शाह वलीउल्लाह के बेटे शाह अब्दुल अजीज को भारत को 'दारुल हर्ब' घोषित करने वाला पहला भारतीय मुसलमान कहा जाता है। रायबरेली के सैयद अहमद शहीद (1786–1831) और बंगाल के मौलाना शरीअतुल्लाह को कट्टरवादी गुट का मुखिया समझा जाता है। उसी तरह सर सैयद अहमद ख़ान और चिराग़ अली को सुधारवादियों का प्रतिनिधि समझा जाता है। इन दोनों लोगों के बीच की कड़ी के रूप में नदवतुल उलमा, लखनऊ के मौलाना शिबली नोमानी का नाम लिया जाता है। अन्य शैक्षणिक संस्थाओं के अलावा अलीगढ़ विचार और देवबंद विचारधारा ने भारतीय मुसलमानों पर अच्छा प्रभाव डाला है।

अलीगढ़ आंदोलन की शुरुआत सर सैयद अहमद ख़ान (1817–98) ने की। वे ब्रिटिश सरकार में न्यायाधीश के पद पर काम कर रहे थे। उन्होंने संयुक्त प्रांत (यू.पी.) में विभन्न स्थानों पर काम किया। मुस्लिम समाज के सुधार का काम उन्होंने अलीगढ़ से शुरू किया। इसीलिए इसे 'अलीगढ़ आंदोलन' भी कहा जाता है। हालांकि जमीनी सतह पर इसकी शुरुआत पूर्वी यू.पी. के गाजीपुर में हुई थी, जहां पर सैयद अहमद ख़ान ने 1864 में एक स्कूल की स्थापना की और एक सांइटिफ़िक सोसायटी का गठन किया, जिसमें पश्चिम के वैज्ञानिक सोच को भारत के मुसलमानों में लोकप्रिय करने की कोशिश की। इस सोसायटी ने भौतिक विज्ञान की किताबों का उर्दू में अनुवाद किया।

1857 की बगावत के बाद भारतीय नागरिकों, विशेषकर शरीफ़ कहे जाने वाले मुसलमानों की हालत ग़ैर थी। सर सैयद अहमद ख़ान ने अशराफ़ (शरीफ मुसलमानों) का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने परिस्थितियों को देखकर समझ लिया कि मुसलमानों को अपना अस्तित्व बचाये रखने के लिए यह जरुरी है कि मुस्लिम शैक्षणिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो। और अंग्रेजों का वफ़ादार बनकर रहा जाए।

अपने पहले लक्ष्य को पाने के लिए उन्होंने 1875 में मुहम्मडन ऐंग्लो ओरियंटल कॉलेज, अलीगढ़ की बुनियाद डाली। यह कॉलेज कैंब्रिज विश्वविद्यालय की तर्ज पर खोला गया था और मूल रूप से मुसलमानों के लिए था। इसका मुख्य उद्देश्य सोच में उदारता, मानवता का प्रसार, वैज्ञानिक रुझान और राजनीतिक सूझ-बूझ का विकास था। उसका एक उद्देश्य यह भी था कि भारतीय मुसलमानों को बड़े पैमाने पर सरकारी नौकरी मिले।

1886 में उन्होंने मुहम्मडन ऐंग्लो ओरियंटल कांफ्रेंस का गठन किया। कांफ्रेंस का मुख्य उद्देश्य यह था:

- उर्दू भाषा को ताकत प्रदान की जाए। इसके लिए वैज्ञानिक साहित्य का उर्दू में अनुवाद किया जाए।
- सरकार पर यह दबाव बनाया जाए कि उर्दू को सभी सरकारी और निजी स्कूलों में दूसरी भाषा का दर्जा मिले।
- नई नस्लों को सुधारने के उद्देश्य से महिलाओं में भी शिक्षा को आम किया जाए।
- कुछ ऐसी नीति बनायी जाए, जिससे मुस्लिम छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए यूरोप भेजा जा सके।

सर सैयद अहमद यह सिद्ध करना चाहते थे कि भारतीय मुसलमान ब्रिटिश शासन के वफ़ादार हैं, ग़द्दार नहीं। उन्होंने 1888 में मुहम्मडन पैट्रिओटिक एसोसिएशन की नींव डाली।

उन्होंने मुसलमानों को यह सलाह दी कि वे अपने आपको कांग्रेस से दूर रखें। उन्हें यह भी भय सता रहा था कि राजनीति में प्रतिनिधियों वाली व्यवस्था मुसलमानों को हाशिये (Margin) पर ले आयेगी। उनकी इसी सोच के आधार पर लोग उन्हें मुसलमानों को अलग करने और 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' को बढ़ावा देने वाला कहा जाता है। हालांकि यह आंकलन गलत है। हालांकि सर सैयद अहमद ख़ान ने एक बार अपने भाषण में कहा था—हिंदू और मुसलमान एक सुंदर सी दुल्हन की ख़ूबसूरत आंखे हैं और उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

इस्लाम के प्रति सर सैयद का रवैया भी आधुनिक था। उन्होंने कुरानी आयतों की एक आधुनिक वैज्ञानिक एवं तर्कवादी व्याख्या की। वे इज्तिहाद की कल्पना को आम करना चाहते थे। वे चाहते थे कि बहुपत्नी विवाह, पर्दा और सूद आदि पर नये सिरे से विचार-विमर्श करना चाहिए। उनका कहना था कि इस्लाम में बहुपत्नी विवाह की अनुमति ऐतिहासिक कारणों से दी गयी है। भारत में ऐसी स्थिति नहीं है इसलिए भारतीय मुसलमानों को इसे त्याग देना चाहिए।

इसी तरह उनका कहना था कि महिला शिक्षा कुरान और सुन्नत से नहीं टकराता। यूरोप में महिलाओं को कार्यालयों में कार्य करते देखकर वे बहुत प्रभावित थे।

इसी तरह वे कहते थे कि चक्रवृद्धि ब्याज का तो इस्लाम में निषेध हो सकता है लेकिन साधारण ब्याज विशेष कर बैंक-ब्याज या सरकारी बौंड पर दिया जाने वाला ब्याज महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। इस बारे में पुनर्विचार होना चाहिए।

जिन लोगों ने उनका साथ दिया उनमें अलताफ़ हुसैन हाली, नजीर अहमद और शिबली नुमानी प्रमुख हैं। उनके आंदोलन में नैतिक उत्थान को बहुत महत्व दिया गया था। विशेष कर नौजवान लड़के और लड़कियों को वे नैतिकता का पाठ पढ़ाना चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'तहजीवुल अखलाक' नाम में एक पत्रिका निकाली। वे उर्दू भाषा को बढ़ावा देना चाहते थे। उन्होंने उर्दू में दो किताबें लिखीं। 'असबाबे बगावते हिंद' (1858) और 'असरा रुस सनादीद'।

फ़रायज़ी आंदोलन

यह आंदोलन सामाजिक/धार्मिक आंदोलन था। यह अरबी भाषा के शब्द 'फ़र्ज' से लिया गया था जिसका अर्थ होता है 'कर्तव्य'।

यह आंदोलन बंगाल के पूर्वी क्षेत्र में जमींदारों के विरुद्ध प्रारंभ किया गया था। जमींदार आमतौर पर हिंदू थे। यह आंदोलन नील के बागान मालिकों (Indigo plants) के खिलाफ़ भी था। मुस्लिम कृषि मजदूरों को जागृत करने के उद्देश्य से उनके नेताओं ने धार्मिक शब्दावली का प्रयोग किया। उन्होंने आह्वान किया कि मुसलमानों की पोशाक ऐसी होनी चाहिए कि वह गैर-मुस्लिमों से अलग दिखें।

इस आंदोलन की शुरुआत हाजी शरीअतुल्लाह ने की। उन दिनों बंगाल के सभी मुसलमान किसानों/खेतिहर मजदूरों के यहां हिंदू रीति-रिवाज का प्रचलन था। वे भी मकबरों और मजारों पर जाते थे, बेड़ा बहाते थे, शादी-विवाह के अवसर पर नाच-गाना होता था। जब कोई लड़की बालिग होती थी तो उसका पहला मासिक धर्म आने पर घर

के सामने केले का पेड़ लगाते थे। फ़राएजी आंदोलन इन्हीं रीति-रिवाज के खिलाफ़ शुरू हुआ।

लेकिन इन लोगों ने जुम्मा और ईद की नमाज की अनिवार्यता को यह कहते हुए समाप्त कर दिया कि चूंकि भारत दारुल हरब है, इसलिए यह ये नमाज जरुरी नहीं हैं।

यह आंदोलन दादू मियां के नेतृत्व में खूब फला-फूला। दादू मियां हाजी शरीअतुल्लाह के बेटे थे। उन्होंने इसे एक आंदोलन का रूप दे दिया। उन्होंने इसे गांव की सतह से लेकर राज्य स्तर तक व्यवस्थित किया। हर सतह पर ख़लीफ़ा नियुक्त किये गये।

दादू मियां ने जमींदारों के लठैतों का मुकाबला करने और पुलिस की ज्यादतियों से सुनियोजित रूप से बचने के उद्देश्य से एक सैन्यदल भी बनायी। उन्हें कई बार हिरासत में भी लिया गया। लेकिन 1862 में उनकी मृत्यु के बाद यह आंदोलन धार्मिक आंदोलन में बदल गया।

फ़रायज़ी आंदोलन का विरोध तयानी आंदोलन ने शुरू किया। इस आंदोलन का नेतृत्व करामत अली जौनपुरी ने संभाली। करामत अली शाह वलीउल्लाह देह्लवी से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। उन्होंने फ़रायजी द्वारा जुम्मा और ईद की नमाज के खिलाफ़ दिये गये फ़तवे की खूब आलोचना की। तयानी आंदोलन का कहना था कि ब्रिटिश राज में मुसलमानों को पूरी धार्मिक आजादी है। इसलिए यदि दारुल अमन नहीं भी है तो दारुल इस्लाम अवश्य है।

देवबंद स्कूल

उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में देवबंद के पास 1867 ई. में दारुल उलूम देवबंद की स्थापना की गयी। कासिम नानोतवी और राशिद अहमद गंगोही ने इसे शुरू किया। इसका मुख्य उद्देश्य आलियों (शोधार्थियों) और आम मुसलमानों के बीच सम्पर्क स्थापित करना था और मुस्लिम समाज को उनकी मूल सस्ंकृति एवं धार्मिक पहचान की ओर लौटाना था।

देवबंद में परंपरागत पाठ्यक्रम को शुरू किया गया और आधुनिक वैज्ञानिक विषयों की अनदेखी की गयी। उनका विचार था कि इन विषयों का अध्ययन तो आसानी से सरकारी शैक्षणिक संस्थाओं में हासिल किया जा सकता है लेकिन परंपरागत इस्लामी शिक्षा का ह्रास हो रहा है। उनकी सोच यह थी कि यदि कोई छात्र चाहे तो देवबंद से मुक्त होने के बाद स्कूलों और कॉलजों में प्रवेश ले सकता है। हालांकि व्यवहार में ऐसा संभव नहीं होता था क्योंकि देवबंद से मुक्त होने में 16 वर्ष लग जाते थे। 10 वर्ष का इब्तिदाई और 6 वर्ष की उच्च शिक्षा। इसके पाठ्यक्रमों में अरबी और फ़ारसी की ग्रामर, साहित्य, इस्लमी इतिहास, अरबी दर्शन, कलाम, फ़िक्ह, ज्यामिती, ज्योतिष, अरबी औषधी, हदीस और तफ़सीर आदि। छात्रों को उनके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों के आधार पर श्रेणियों में बांटा जाता था।

यद्यपि देवबंद को परंपरागत मुस्लिम शैक्षणिक संस्थान के रूप में कांग्रेस ने मान्यता प्रदान की और स्वतंत्रता संग्राम में भी इसकी भागीदारी रही। वहां के प्रमुख नेता मौलाना महमुदुल हसन से लेकर मौलाना अबुल कलाम आजाद तक ने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। इन लोगों दो-राष्ट्र वाले मुस्लिम लोग के नजरिये का खुलकर विरोध किया। जिसकी वजह से मुहम्मद अली जिन्ना ने अलग पाकिस्तान बनाया।

अहमदिया आंदोलन

19वीं शताब्दी में मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी (1839–1908) ने एक धार्मिक आंदोलन चलाया। वे पंजाब सूबे के कादियान के रहने वाले थे। शुरू में इस आंदोलन ने आर्य समाजियों और ईसाई मिशनरियों से इस्लाम को बचाने की कोशिश की। लेकिन 1889 में मिर्ज़ा गुलाम अहमद ने अपने आपको 'मसीह' और 'मेहदी' घोषित कर दिया और इस तरह नुबूवत का दावा कर दिया। बाद में उन्होंने और आगे बढ़कर अपने आपको भगवान कृष्ण और ईसा (अलै.) का अवतार बताने लगे। अधिकांश मुसलमानों ने गुलाम अहमद और उनके अनुयायिओं का विरोध शुरू कर दिया। उनके अनुयायी अहमदिया या कादियानी कहलाए। धीरे-धीरे वे एक अलग धार्मिक इकाई बन गये और पाकिस्तान में उन्हें गैर-मुस्लिम घोषित कर दिया गया।

महिलाएं समाज सुधार का केंद्र बिंदु

"वे सभी राष्ट्र जिन्होंने महिलाओं को सम्मान दिया, महान कहलाए। वे देश या वे राष्ट्र जिन्होंने महिलाओं को सम्मान नहीं दिया वे कभी महान नहीं कहलाये और न भविष्य में कहलाएंगे। हमारी कौम (या भारतीय नस्ल) को पिछड़ा इसलिए कहा जाता है कि हम शक्ति के इस जीवित रूप का सम्मान नहीं करते।"—विवेकानंद

ब्रिटिश काल से पहले से ही भारतीय नारियों का सामाजिक, धार्मिक, अर्थिक एवं राजनीतिक शोषण होता रहा है। दुर्भाग्य से हिंदू धार्मिक ग्रंथों, जैसे—पुराण, स्मृति, रामायण और महाभारत भी महिलाओं के इस शोषण का कारण बने। समाज में औरतों की कोई प्रतिष्ठा नहीं थी। यह भारतीय समाज की एक प्रमुख बुराई थी। सती प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी विवाह, कन्या भ्रूण हत्या, शिक्षा में भेदभाव और बुनियादी मानवाधिकारों का अभाव, विधवाओं की दूसरी शादी पर निषेध आदि कुछ आम बुराईयां थीं जो भारतीय समाज में पायी जाती थीं।

ब्रिटिश साम्राज्य ने निस्संदेह भारत को आर्थिक स्तर पर कंगाल बना दिया। लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि उस दौर में महिलाओं का उत्थान हुआ। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, कानूनी और राजनीतिक शासन व्यवस्था, जिसे अंग्रेजों ने कायम किया था, उसमें व्यक्तिगत स्तर पर समानता और स्वतत्रंता प्रदान की गयी थी। जन्म, लिंग, जाति या नस्ल के आधार पर कोई भेदभाव न था। पश्चिमी शिक्षा, पश्चिम की उदारवादी सोच आधुनिक संस्थाएं, आवागमन के आधुनिक संसाधन और प्रचार-प्रसार के माध्यम ने नारी उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि नारी उत्थान का नारा पहले-पहल उदार पुरुषों ने ही दिया और बहुत कम महिलाओं ने उनको सहयोग दिया। महिलाएं इस क्षेत्र में 19वीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के शुरू में सक्रिय हुई। तब जाकर उन्होंने इस सिलसिले में सोचना, बोलना या अमल करना शुरू किया।

19वीं और 20वीं शताब्दी में लगभग सभी सामाजिक आंदोलनों ने नारी उत्थान को प्रमुखता प्रदान की और उनके अधिकारों के प्रति जागरुक दिखे। राजा राम मोहन संभवत: पहले भारतीय थे, जिन्होंने इस सिलसिले में बहुत ही सक्रिय भूमिका निभायी। उन्होंने सती प्रथा के खिलाफ़ अभियान चलाये, उनकी लगातार कोशिशों की वजह से ही 1829 ई. में सती के विरुद्ध कानून बनाया गया और सती प्रथा पर रोक लगा दी गयी।

बाल विवाह भी भारतीय महिलाओं के लिए सदियों से एक अभिशाप रहा है। ईश्वर चंद्र विद्या सागर और बी.एम. मालाबारी, जो कि एक पारसी समाज सुधारक थे, ने बालविवाह का खुलकर विरोध किया। विद्या सागर की कोशिशों से 1860 में एक अधिनियम पारित हुआ, जिसके तहत बालिकाओं के विवाह के लिए न्यूनतम आयु 10 वर्ष तय कर दी गयी। बी.एम. मालाबारी ने अपनी पत्रिका ''इंडियन स्पेक्टेटर'' के माध्यम से लोगों में जागृति लाने की और यह बताया कि बाल विवाह के कारण किस तरह हिंदुओं का नुकसान हो रहा है। उनकी कोशिशों से ही 1891 में शादी की न्युनतम आयु 10 से बढ़ाकर 12 वर्ष कर दी गयी।

बाद में 1929 में शारदा एक्ट पारित हुआ जिसके तहत बालिकाओं की न्यूनतम आयु 16 वर्ष और लड़कों की 18 वर्ष सुनिश्चित की गयी। इन कोशिशों से केवल महिलाओं की अवस्था में ही सुधार नहीं हुआ बल्कि यह भी सिद्ध हो गया कि यदि कोई कोशिश करे तो सब कुछ होना संभव है।

बंगाल में ईश्वर चंद विद्यासागर, मालाबारी, नरमद, रानाडे, और बम्बई के नटराजन ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए जोरदार आवाज उठायी। इन लोगों की कोशिशों से ही 1856 में लॉर्ड डलहौजी ने विधवा पुनर्विवाह अधिनियम-1856 लागू किया इस तरह भारत में पहली बार विधवाओं के विवाह को कानूनी वैधता मिल गयी। हालांकि शास्त्रों में इसकी अनुमति नहीं दी गयी थी।

प्राचीन भारत में मन्दिरों में देवदासियों का रिवाज आम था। विशेषकर दक्षिण भारत में यह बड़े पैमाने पर इसका रिवाज था। यह एक प्रकार की वेश्यावृत्ति थी। इसमें बहुत ही छोटी आयु में ही बच्चियों को मन्दिरों में पुजारी की सेवा के लिए छोड़ दिया जाता था। वहां नाचने-गाने के अलावा उनका हर प्रकार से शोषण होता था। यहां तक कि उनसे बलपूर्वक वेश्यावृत्ति का काम भी लिया जाता था। डॉ. मुथुलक्ष्मी, एक समाज सुधारक ने इस प्रथा के खिलाफ़ आंदोलन प्रारंभ किया और उनके प्रयासों से ही 1925 में इस प्रथा पर रोक लगी।

बहुपत्नी विवाह भी एक महत्वपूर्ण कारण था, जिससे महिलाओं का शोषण होता था। बहुपत्नी विवाह का रिवाज भारत के हर समुदाय में मौजूद था। केशवचंद्र सेन, और सर सैयद अहमद ख़ान ने इसके विरुद्ध आंदोलन शुरू किया। 1872 में हिंदू मैरिज एक्ट के जरिये हिंदुओं के यहां इस पर रोक लगा दी गयी। इसी के साथ बहुपत्नी विवाह पर भी रोक लग गयी। इसके बाद ही विधवाओं के विवाह या अन्तरजातीय विवाह का रिवाज आम हुआ। भारत के समाज-सुधारकों ने महिलाओं की शिक्षा पर भी बहुत जोर दिया। क्योंकि उन्हें विश्वास था कि शिक्षा से ही उनमें जागृति आयेगी और उनका आत्म-स्वाभिमान जगेगा।

ब्रह्म समाज ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आर्य समाज, राम कृष्ण मिशन, अलीगढ़ आंदोलन तथा इंग्लैंड, जर्मनी, अमेरिका और हालैंड से आने वाली मिशनरियों ने भी महिलाओं की शिक्षा पर बहुत जोर दिया।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने बेथून के सहयोग से मई, 1849 में भारत में पहला बालिका स्कूल खोला जिसका नाम 'हिंदू बालिका विद्यालय' रखा गया। विद्यासगर ने महिलाओं के उत्थान में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

भारत में गरीबी और भुखमरी भी एक बहुत बड़ी वजह थी, जिसके कारण यहां की महिलाएं शिक्षा से वंचित रही। लेकिन जैसे भारत की अर्थव्यवस्था में सुधार आता गया। महिलाओं में साक्षरता दर बढ़ता गया। 1917 में जहां छात्राओं की संख्या 1,230,000 थी वहीं 1938 में यह बढ़कर 2,890,000 हो गयी।

वुड्स डिस्पैच (1854), हंटर आयोग (1882) ने भी नारी शिक्षा को प्रोत्साहित किया। लेकिन राज्य स्तरीय कोशिशों से अर्थिक समाज सुधारकों और ईसाई मिशनरियों ने लड़कियों के स्कूल खोले। प्रोफ़ेसर कर्वे ने 1916 में पुणे में भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की।

नारी उत्थान का यह आंदोलन उस समय और भी जोर पकड़ गया, जब राष्ट्रवादी आंदोलन शुरू

हुआ। विशेषकर गांधी जी द्वारा चलाये गये आंदोलन में भारत की महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभानी शुरू की। हजारों महिलाओं ने मदिरा की दुकानों के खिलाफ़ विरोध प्रदर्शन किया। विरोध प्रदर्शनों में भाग लिया। लाठियां खायीं और जेल भी गईं। कुछ महिलाएं तो मंत्री बनी, अवर सचिव के पद पर आसीन हुईं और प्रांतीय विधायिक में उप-सभापति नियुक्त हुईं जब 1937 में कांग्रेस की सरकार का गठन हुआ। भारतीय महिलाएं क्षेत्रीय बोर्डों और म्यूनिस्पेल्टियों की सदस्य भी चुनी गयीं।

इस तरह भारतीय नारी में एक नयी जागृति आयी। अब वे अपने भाग्य का फैसला स्वयं कर सकती थी।